बदरुद्दीन तैयबजी

राष्ट्रीय जीवनचरित

बदरुद्दीन तैयबजी

लाईक़ फ़तेहअली

अनुवाद

जे. वी. रमण



नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-1644-3

पहला संस्करण : 1996 (*शक* 1917)

Badruddin Tyabji (*Hindi*)

रु. 22.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क,
नयी दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित

विषय सूची



THE CHIEF MOURNERS.

THE HON'BLE MR. JUSTICE BUDRUDIN TYEBJEE, BAR-AT-LAW,

Judge of the Bombay High Court, a member of the Bombay Legislative Council in the early eighties, Founder of the Anjuman-i-Islam High School of Bombay, President of the Indian National Congress held at Madras in 1887, &c. &c.

Born 1844.

Died in London, 19th August 1906.

શોક અને દલગીરીમાં ગરક !

ધી ઓનરેબલ મી૦ જસ્ટીસ બદરૂદીન તયબજી, બેરીસ્ટર એટ લૉ.

મુંબઈની હાઈ કોર્ટના જજ, એંસીના દાહેકામાં મુંબઈની ધારા સભાના એક સભાસદ, મુંબઈની અનજુમને ઈસ્લામ હાઈ સ્કુલના એક સ્થાપક, ૧૮૮૭ માં મદ્રાસ ખાતે મળેલી હીંદી પ્રજાકીય કોનગ્રેસના પ્રમુખ, વગેરે, વગેરે.

જન્મ ૧૮૪૪.

મરણ (લંડનમાં) તા૦ ૧૯ મી આગસ્ટ ૧૯૦૬.

भूमिका

बदरुद्दीन तैयबजी की मृत्यु 1906 में बासठ वर्ष की आयु में हुई। आज के मानदंड से वह अधिक वृद्ध तो नहीं थे, परंतु अपने जीवनकाल में उन्होंने बहुत कुछ हासिल किया। वकालत के अपने चुनिंदा पेशे में उन्होंने उच्च स्थान प्राप्त किया। वह बंबई के मुख्य न्यायाधीश के पद तक पहुंचे और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष भी बने। उनकी ख्याति ऐसी थी कि देश के सर्वोच्च स्तर के निर्णयकर्ता अक्सर उनसे परामर्श करते थे। उनकी पत्नी में दृढ़ चरित्र के साथ माधुर्य और विनय का असीम मिश्रण था और उन्होंने उनके घरेलू जीवन को शालीनता और उत्साह से भरा, जबकि उनके बेटे और बेटियों में से प्रत्येक पर किसी भी पिता को गर्व होता। ऐसा प्रतीत होता था कि बदरुद्दीन की कोई भी इच्छा बाकी नहीं बची।

और इसके बावजूद उनके सार्वजनिक जीवन का एक बड़ा भाग ऐसा था जहां उन्हें मालूम था कि वह असफल रहे हैं। उन्होंने आशा की थी कि मुसलमान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल होने पर राजी हो जायेंगे और सभी राष्ट्रीय गतिविधियों में भाग लेंगे। लेकिन यह बात अंग्रेजों को, बल्कि वाइसराय लार्ड डफरिन को, नहीं भायी। उन्होंने उत्तर भारतीय नेता सैयद अहमद खान को अपना सहयोगी बना लिया। मुसलमानों को भारतीय सार्वजनिक जीवन की 'मुख्यधारा' से दूर रखना सैयद अहमद खान का उद्देश्य बन गया और वह इसमें सफल रहे। जैसा कि हम सब जानते हैं, उन्हें नाइट की उपाधि से पुरस्कृत किया गया।

यह अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' नीति का एक अत्यंत स्पष्ट उदाहरण था। परंतु ब्रिटेन को दोषी ठहराने के बजाय हमें शायद अपने आसपास नजर डालकर दोष वहां लगाना चाहिए जहां उचित हो—खासकर उन नेताओं के निजी स्वार्थ पर जो यह जानने में असमर्थ थे कि उनके समुदाय का वास्तविक लाभ कहां है। उनके गलत निर्णय के परिणाम सारे देश में फैले और गहराये हैं। लेकिन उनके अपने समुदाय के लिए यह परिणाम अधिक गंभीर रहे हैं और ऐसा लगने लगा था जैसे वह अब, एक तरह से अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए संघर्ष कर रहा है। 'क्या हो सकता था' - यह सोचना व्यर्थ है। लेकिन इसके साथ ही हम यह विश्वास करने पर विवश हैं कि यदि सैयद अहमद खान मुसलमानों को मुख्यधारा में लाने में बदरुद्दीन तैयबजी के साथ सहयोग करते और उन्हें राष्ट्रीय जीवन के सभी पहलुओं में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करते तो यह समुदाय अधिक समर्थ,

अधिक आत्मविश्वासी होता। इससे बदरुद्दीन का असर बहुत जोरदार और टिकाऊ साबित होता।

उनके अपने परिवार में उनका प्रभाव एक शताब्दी से बना हुआ है और हो सकता है कि आगे भी बना रहे। उनके पुत्र और पौत्र 'देश सेवा' के कर्तव्य की प्रबल भावना के साथ बड़े हुए। सरकारी कर्मचारियों के नाते, पेशेवर तौर पर अथवा किसी भी अन्य व्यवसाय में वे देश के प्रति अपने ऋण के भाव से कभी नहीं भटके। यह काफी महत्वपूर्ण है कि उनके बहुत सारे वंशजों में से शायद ही कोई ब्रिटेन और अमरीका प्रवास के उस दौर में शामिल हुआ जो साठ और सत्तर के दशक में देखने में आया। बदरुद्दीन ने उनकी जड़ों को पक्की तरह रोपा और वे बहुत गहरी उतरीं।

आज का युग जैसे-तैसे काम साधने का युग है और हमारे सामने नैतिक और न्यायोचित सिद्धांतों के साथ जीने और काम करने का अर्थ भूलने का खतरा मंडरा रहा है। मैंने उन सिद्धांतों को दिखाने का प्रयास किया है जिनके आधार पर बदरुद्दीन तैयबजी जीवन के हर पहलू पर निर्णय लेते थे। घटनाक्रम इतना तेज रहा है कि सौ वर्ष या पचास वर्ष तक के पहले की स्थिति आज के युवा वर्ग को कल्पना से भी अधिक विचित्र लगेगी। इसी कारण मैंने उनके जीवनकाल के सामाजिक और राजनैतिक वातावरण का वर्णन करने और उसी के संदर्भ में उनकी जीवनी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

इस छोटी-सी पुस्तक की लगभग सारी सामग्री के लिए मैंने बदरुद्दीन तैयबजी के पुत्र हुसैन तैयबजी द्वारा लिखी गई (ढाकर एंड कंपनी, 1957) उनकी विस्तृत और यथार्थ जीवनी का खासा सहारा लिया है। उनके परिवारजनों की अस्पष्ट स्मृतियों पर निर्भर होने के बजाय मैंने इस कृति को ठोस तौर पर अपने मामा हुसैन के सुव्यक्त वक्तव्यों और वर्णनों पर आधारित करना बेहतर समझा। मुझे आशा है कि यदि वह जीवित होते तो उनकी पुस्तक का जो मैंने उपयोग किया है उसे अस्वीकृत न करते। मैं ए.जी. नूरानी द्वारा 'आधुनिक भारत के निर्माता' शृंखला के अंतर्गत प्रकाशन विभाग के लिए लिखित पुस्तक के प्रति भी आभारी हूं।

लाईक़ फ़तेहअली

1

सिद्धांतवादी व्यक्ति

हममें से उन लोगों के लिए—बल्कि आप में से उन लोगों के लिए—जिनका जन्म 1947 के बाद हुआ, यह कल्पना करना कठिन है कि एक ऐसे देश में रहना कैसा लगता होगा जिसके शासक उस देश के निवासी नहीं हैं। और यदि स्वाधीनता से कुछ ही पहले की हमारी भावनाओं का अंदाजा लगाना कठिन है तो उससे भी सौ वर्ष पूर्व उस समय, जब अंग्रेज शासक अपनी सफलता, ताकत और दंभ के उत्कर्ष पर थे, हमारे पूर्वजों की भावनाओं की कल्पना करना भी असंभव है।

1844 में जब बदरुद्दीन का जन्म हुआ था, अंतिम मुगल सम्राट बहादुरशाह ज़फर दिल्ली में अपने महल में बैठे उर्दू की खूबसूरत शायरी करने में ही व्यस्त थे। यह और बात थी कि महल के द्वार के बाहर वह कुछ भी नहीं थे। सारे देश की व्यवस्था—बल्कि शासन - ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथों में था जो मूलरूप से व्यापार के उद्देश्य से भारत आई थी। कालोपरांत सब कुछ अंग्रेजी कंपनी के कब्जे में आ गया। सेना के सभी अधिकारी अंग्रेज थे जबकि सभी वरिष्ठ असैनिक पदों पर भी अंग्रेज ही आसीन थे।

शासन के हस्तांतरण का सिलसिला धीरे धीरे आगे बढ़ा था। फौजी कार्रवाई इतनी छितरी हुई और छुटपुट थी कि हमारी जनता, जिनका न कोई नेता था और न ही जिसके पास दूर-दराज के इलाकों तक संचार के कोई साधन थे, शायद स्पष्ट रूप से यह जानती तक नहीं थी कि उनके देश को क्या हो रहा है। जब तक इस बात का पता था कि सम्राट दिल्ली में अपना दरबार लगाते हैं, आम जनता को यह बात महत्वपूर्ण नहीं लगी होगी कि देश का वास्तविक प्रशासन विदेशियों के हाथ छोड़ दिया गया था। इसके अलावा, देश पर अंग्रेजों का तकरीबन पूरा नियंत्रण होने के बावजूद, व्यक्तिगत तौर पर जनता के साथ उनके बर्ताव में कटुता या क्रूरता कभी-कभार ही देखने में आती थी। अनेक अंग्रेज आसानी से लोगों से मिलते-जुलते, भारतीयों से मित्रता करते और कभी कभी भारतीय रिवाज और तौर-तरीके तक अपना लेते थे। फिर भी यह स्पष्ट है कि भारतीय हृदयों में नाराजगी और कुढ़न अवश्य छिपी होगी क्योंकि मई, 1857 में बिना किसी विशेष कारण के बगावत भड़क

उठी। भारतीय सैनिकों ने अंग्रेज अफसरों के खिलाफ विद्रोह कर दिया और उनकी तथा उनके परिवारजनों की हत्या की भी कुछ घटनाएं हुई।

आग एक बार लगी तो सारे उत्तर भारत में फैल गई। लेकिन एक अच्छे नेता के अभाव में या आवश्यकता से अधिक नेताओं के होने की वजह से, योजना के न होने और संगठन के न होने के कारण शस्त्रों से सुसज्जित और सुसंगठित ब्रिटिश सेना ने भारतीय विद्रोहियों को दबा दिया। बेचारे बादशाह के वंशजों को मार दिया गया और स्वयं उन्हें, जो अब तक वृद्ध और असहाय हो चुके थे—अपने अंतिम दिन बिताने के लिए बर्मा निष्कासित कर दिया गया।

बगावत के परिणामस्वरूप मरने वालों की संख्या अनगिनत थी क्योंकि अंग्रेजों की बदले की कार्रवाई बर्बरतापूर्ण थी। उनको लगा कि अपने विदेशी शासकों के खिलाफ विद्रोह के लिए भारतीयों को सबक सिखाना होगा। देश भय और मृत्यु की गंध से भर गया। ऐसा कहा जाता था कि उत्तर भारत के कुएं विद्रोहियों के हमदर्दों के शवों से भर गये और चेतावनी के तौर पर हर पेड़ से उनके किसी संदिग्ध सहायक का शव लटकाया गया। इसके बाद शीघ्र ही महारानी विक्टोरिया को भारत की सम्राज्ञी घोषित किया गया और भारत विधिवत ब्रिटेन का उपनिवेश बन गया।

क्योंकि अंग्रेजों ने मुसलमानों से ही सत्ता संभाली थी, एक मुसलमान ही भारत का नाममात्र का शासक था और भारतीय सेना में मुसलमानों की संख्या ही सर्वाधिक थी, अतः विद्रोह में भाग लेने के लिए सबसे सख्त सजा भी मुसलमानों को ही दी गई। बगावत के दौरान और बाद में मुसलमान ही अंग्रेजों की नजर में संदिग्ध थे। पहले से ही क्षीण, कमजोर, एय्याश और अंधविश्वास में जकड़े मुसलमानों को और बेइज्जत किया गया तथा उन्हें उनकी संपत्ति और जायदाद से वंचित कर दिया गया और अगली आधी शताब्दी के लिए उनके मन और हृदय बगावत की असफलता पर विलाप करते रहे। उसके परिणाम का और भूतकाल के उस गुलाबी सपने के चकनाचूर होने का आघात झेलते रहे जबकि उनके साथी मुसलमान इस विशाल महाद्वीप में सत्ता का केंद्र थे।

बगावत को दबाने के साथ ही अंग्रेजों ने खूब जानबूझ कर और प्रभावशाली ढंग से भारत की समस्त जनता का आत्मसम्मान ही कुचल दिया। अंग्रेजों का रवैया तब तक सरल और मैत्रीपूर्ण रहा था। लेकिन अब वह एक शासक जाति का अपने गुलामों के प्रति अहंकार के रूप में बदल गया। अनौपचारिक सामाजिक संपर्क, जो पिछले संबंधों की विशेषता थी, अब समाप्त हो गया। अंग्रेज अपने घमंड में सिमटे जनता या 'देशी' लोगों से अलग रहने लगे। शासक और शासित के बीच अनिवार्य संपर्क के अलावा ऐसी कोई क्रिया नहीं थी जिसमें दोनों मिलकर भाग लेते। युवा अंग्रेजों को प्रोत्साहित ही नहीं किया जाता बल्कि सिखाया जाता था कि वो 'देशी' लोगों के साथ दबंग और अभद्र तरीके से पेश आयें।

जहां संपर्क अनिवार्य था वहां भारतीयों को अपमान और झिड़कियां झेलनी पड़ती थीं। उदाहरण के लिए, अंग्रेजों ने भारतीयों को अपने क्लबों और सामाजिक समारोहों से निकाल बाहर किया। वे भारतीयों द्वारा रेल के उसी डिब्बे का टिकट लेने पर एतराज कर सकते और अक्सर करते भी थे जिसमें वे स्वयं यात्रा कर रहे हों। यदि कोई भारतीय किसी टट्टू या गाड़ी पर सवार हो तो उससे अपेक्षा की जाती थी कि अंग्रेज के दिखने पर वह उतर जाये और यदि कोई पैदल चलने वाला व्यक्ति किसी ऐसी अंग्रेज महिला के सामने आ जाता जिसे उसकी शक्ल न भाती तो संभवतया उसे महिला की छतरी की नोक से फुटपाथ पर ढकेल दिया जाता। भारतीयों को बहुत कम अधिकार प्राप्त थे और स्वयं अपने ही देश को चलाने में उनकी आवाज कोई नहीं सुनता था। सबसे बड़ी बात यह थी कि उनमें आत्मविश्वास नहीं था और आत्मसम्मान की बहुत कमी थी।

भारत में विद्रोह के समय जब आमतौर पर सभी भारतीयों की और विशेषकर मुसलमानों की किस्मत का सितारा डूबा हुआ था। बदरुद्दीन तैयबजी की आयु केवल चौदह वर्ष थी।

तैयबजी परिवार मूलरूप से गुजरात तट पर कैंबे का निवासी था। वे व्यापारी और सौदागर थे जिनके पास न तो बहुत भूमि थी और न ही संपत्ति। लेकिन यूं लगता था कि उन्होंने खासी मात्रा में सच्चरित्रता और विवेक विरासत में प्राप्त की थी जो शायद किसी भी जागीर से अधिक मूल्यवान सिद्ध हुई। बदरुद्दीन तैयबजी के पिता तैयब अली नाम के एक विलक्षण व्यक्ति थे। उनका परिवार बहुत धनी कभी नहीं रहा। लेकिन उनके जन्म के समय एक जबरदस्त आग लगने के कारण इतना बरबाद हो चुका था कि नन्हें बालक ने स्कूल जाने की आयु प्राप्त होने से पहले ही स्थिति को संभालने की ठानी। उसने अपनी मां द्वारा काते सूत को बेचने का छोटा-सा व्यवसाय आरंभ किया और कुछ ही समय में तरक्की कर पैंसिल और स्लेटें बेचने लगा।

कैंबे का बंदरगाह रेतीला होता जा रहा था और शहर का रुतबा भी द्वितीय श्रेणी की ओर गिरता जा रहा था। अतः बाद में वह उभरते हुए बंबई शहर में जा बसे। यहां थोड़े ही समय में 'अल्लाह के फजल' से वह इतने सफल और अमीर हो गये कि उन्हें 'व्यापारी युवराज' कहा जाने लगा। यह संदेह होता है कि ईश्वर ने उनकी सहायता शायद इसीलिए की क्योंकि वह असाधारण तौर पर युक्तिपूर्ण, परिश्रमी और ईमानदार थे। उनकी स्कूली शिक्षा बहुत कम थी, परंतु उन्होंने स्वयं गुजराती, उर्दू, अरबी और इतनी अंग्रेजी सीख ली कि वह अंग्रेज गवर्नर समेत किसी के साथ भी अंग्रेजी में बातचीत और हास-परिहास कर सकते थे। वह कभी भी वादा न तोड़ने के लिए मशहूर थे और उनकी यह ख्याति थी कि वह मात्र किसी को खुश करने के लिए बिना अभिप्राय के एक शब्द भी नहीं कहते थे।

ऐसा कहा गया है कि खूब सारा धन कमाने के लिए केवल भाग्य की आवश्यकता

होती है। लेकिन उसे खर्च करने के लिए चरित्र और बुद्धि की आवश्यकता होती है। तो, धन अर्जित करने के बाद तैयब अली ने उसे किस तरह खर्च करना प्रारंभ किया? जाहिर है उन्हें ऊंची जीवन शैली से कोई घृणा नहीं थी, अन्यथा उन्हें 'युवराज' की उपाधि नहीं मिलती। परंतु उनका अधिकतर धन उनके छह बेटों की शिक्षा पर व्यय हुआ—या शायद 'निवेश' हुआ कहना बेहत्तर होगा। उनके पुत्रों में से प्रत्येक को जैसे ही तैयार पाया गया, शिक्षा प्राप्त करने इंग्लैंड भेज दिया गया—जो कि 19वीं शताब्दी के मध्य के वर्षों में साहस और आस्था का एक विलक्षण कदम था। तैयब अली में ज्ञान प्राप्ति के प्रति अत्यंत आदर था और यह मानना होगा कि वह औसत मुसलमान विद्वान की विद्वता मात्र की ही प्रशंसा नहीं करते थे। उनके अनुसार ज्ञान प्राप्ति बौद्धिक योग्यताओं की प्राप्ति थी, यानी मस्तिष्क और इंद्रियों का यथार्थ जागरण, अर्थ और भौतिक जगत तथा बौद्धिक और कल्पना जगत की सही समझ।

उन्होंने स्वयं अपनी शिक्षा केवल पुस्तकों से ही नहीं बल्कि, और विशेषरूप से, अपने आसपास की दुनिया से हासिल की। उन्होंने शीघ्र ही भांप लिया कि उनका अपना समुदाय जिससे उन्हें काफी लगाव था, संकीर्ण, दकियानूसी और सही मायने में वास्तविक शिक्षा से संपन्न नहीं था। उन्होंने स्वयं बाहर निकलकर सभी धर्मो और समुदायों के लोगों के साथ मेलजोल रखा, मित्रता की, उनके विचारों और आस्थाओं की जानकारी हासिल की और जो कुछ सही और अच्छा लगा उसे आत्मसात किया। ऐसे समय में जब हर छोटे संप्रदाय के लोग तक आपस में सिमट कर रहते थे उन्होंने अपनी मित्रता का दायिरा बनाया और अपनी दावतों के जरिये ईसाई, पारसी, अरब और अंग्रेज जैसे विविध धर्मो और जातियों के लोगों को करीब लाया। दुर्भाग्यवश, उस समय वे हिंदू भी, जो उनके मित्र थे, किसी अन्य जाति या समुदाय के सदस्य के घर भोजन करना पसंद नहीं करते थे।

परंतु इन सबसे बढ़कर अंग्रेजों के साथ उनके संपर्क, फ्रांस में उनके व्यावसायिक संबंधों और अंत में इंग्लैंड में उनके प्रवास ने उन्हें कायल कर दिया कि फिरंगियों की संस्कृति में बहुत कुछ ऐसा है जिसकी प्रशंसा की जा सकती है। उन्हें ऐसा नहीं लगता था, हालांकि उनकी पीढ़ी के अनेक अन्य भारतीयों का तब भी यह विश्वास था, कि पश्चिमी सभ्यता में सब कुछ उनके अपने धर्म और मूल्यों का प्रतिरोधी है। वह धर्मपरायण मुसलमान थे जो हज की यात्रा कर चुके थे। परंतु उन्हें इस बात का डर नहीं था कि विश्व के अन्य भागों में चल रही शक्तिशाली हवाओं के प्रभाव से उनकी अपनी धारणाएं कमजोर हो जायेंगी। उनके मस्तिष्क में वास्तविक धार्मिक अवधारणाओं और उनसे जुड़ी फिजूल की बातों के बीच भेद स्पष्ट था।

इस्लाम एक अत्यंत सरल और सीधा-सादा धर्म है। मात्र इस आस्था को व्यक्त करके कि अल्लाह एक ही है और मोहम्मद उसका पैगंबर है, कोई भी व्यक्ति मुसलमान बन सकता

है। नमाज पढ़ना, रमजान के महीने में रोजा रखना, आमदनी का एक हिस्सा दान के लिए अलग रखना और हज की यात्रा करने जैसे धार्मिक कर्तव्यों को व्यक्तिगत और निजी बातें मानना चाहिए और इनकी अदायगी पर बाहर की दुनिया से संपर्क का कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। तैयब अली का विश्वास था कि समय और परिस्थितियों में परिवर्तन के अनुरूप मनुष्य को अपने बाहरी जीवन को ढालना चाहिए और वह भी इस तरह कि उसकी आंतरिक निष्ठा और धारणाओं पर उसका कोई प्रभाव न पड़े।

तैयब अली ने महसूस किया कि बहुत अच्छा मुसलमान बनने के लिए अपने कार्यकलापों का दायरा संकुचित रखने की, अथवा एक तरह से, आधुनिक जगत से अलग रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपने आसपास की रोचक घटनाओं में हिस्सा लेने से किसी की आस्था या नैतिकता भंग नहीं होती। यह ऐसी बात है जिसे उस समय के ही नहीं बल्कि शायद आज के मुसलमानों ने भी स्वीकार नहीं किया है। हालांकि तैयब अली सभी राष्ट्रों और देशों के लोगों से मित्रता करने के लिए विशेष प्रयास करते थे और वह किसी भी वस्तु का केवल इस कारण विरोध नहीं करते थे कि वह नयी है, फिर भी वह सभी आधुनिक बातों को आंख मूंद कर स्वीकार नहीं करते थे।

उनके परिवार में महिलाओं से हमेशा सम्मान और लिहाज का व्यवहार किया जाता था। उनकी पुत्रियों को गुजराती, उर्दू, अरबी और फारसी तो पढ़ाई गई, लेकिन अंग्रेजी की शिक्षा नहीं दी गई। उनके पुत्रों को अंग्रेजी सिखाने से पहले गुजराती, उर्दू और अरबी का ज्ञान प्राप्त करना पड़ा। यह विचित्र बात है कि बौद्धिक तौर पर तो वह नयी अवधारणाओं को स्वीकार और ग्रहण करते, लेकिन उनके बाहरी रूप, उनके पहनावे और पारिवारिक जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उन सबसे सदैव यही लगा कि वह कैंबे के भारतीय मुसलमान थे।

कदाचित यह कहना बिल्कुल सही नहीं होगा कि तैयब अली की बौद्धिक दृष्टि में परिवर्तन के साथ साथ उनकी घरेलू आदतों में बदलाव नहीं आया। एक महत्वपूर्ण ढंग से उन्होंने अपने घर की आदतों को बदला। बचपन में उनकी मातृभाषा गुजराती ही थी। स्मरणीय है कि उस समय तक बगावत तो नहीं हुई थी, पर सरकार की राजभाषा उर्दू थी। तैयब अली को लगा कि जब तक उनका परिवार केवल गुजराती में बोलेगा वह गुजराती ही रहेगा। लेकिन उर्दू बोलकर वही लोग एक तरह से सारे देश के नागरिक बन जायेंगे। यह तर्क सही हो या गलत, उन्होंने पूरे परिवार को उर्दू लिपि सीखने और आपस में हिंदुस्तानी, जो कि उर्दू का सरल रूप था, में बातचीत करने के काम में लगा दिया। यह सच है कि आज भी कई भारतीय परिवार अनजाने ही अपनी वास्तविक मातृभाषा के स्थान पर अंग्रेजी का उपयोग करते पाये जाते हैं और ऐसा लगता है कि तैयब अली का उर्दू की ओर झुकाव अंग्रेजी के प्रति हमारे रुझान से अधिक कठिन नहीं रहा होगा। परंतु इस मामले में परिस्थितियां

बिल्कुल अलग थीं और पूरे देश के साथ ज्यादा नजदीकी एकीकरण हासिल करने के धुंधले उद्देश्य से ऐसे असुविधाजनक परिवर्तन को अंगीकार करने के लिए जबरदस्त संकल्प शक्ति की आवश्यकता थी। फिर भी लगता है कि परिवर्तन का अपेक्षित प्रभाव पड़ा क्योंकि आने वाले समय में तैयब अली के पुत्रों और पौत्रो ने अपने आपको सदैव प्राथमिक तौर पर भारत का नागरिक माना और किसी धार्मिक अथवा क्षेत्रीय गुट का सदस्य होना गौण समझा।

तैयब अली की कई विशेषताओं को आत्मसात किया उनके पुत्र बदरुद्दीन ने, जिन्हें बाद में भारत के सार्वजनिक जीवन में महत्वपूर्ण हस्ती का दर्जा मिला। दोनों ही कुछ बातों के लिए अंग्रेजी की प्रशंसा करते थे, परंतु उसकी धौंस नहीं सहते थे। दोनों को ही शिक्षित अंग्रेज के न्याय और ईमानदारी के भाव पर विश्वास था। एक अवसर पर तैयब अली ने इस विश्वास को खूब आजमाया। बगावत के उथल-पुथल के दौरान उनकी बिरादरी के एक सदस्य पर किसी बागी की सहायता करने का इल्जाम लगाकर उसे बड़ौदा में कैद कर दिया गया। भय और संदेह के उस वातावरण में उस व्यक्ति को फांसी दी जा सकती थी और यह भी संभव था कि उसके किसी मित्र के भाग्य में भी यही लिखा होता। एक अच्छी साहस कथा के नायक की तरह तैयब अली तुरंत बड़ौदा जा पहुंचे और उस कमांडिंग अफसर से मिले। उसके सामने उन्हें जूते उतारने को कहा गया तो उन्होंने इंकार कर दिया। परंतु उसे इस बात पर राजी करने में कामयाब हुए कि उसके पास अभियुक्त को मृत्यु दंड देने के लिए पर्याप्त गवाही नहीं थी और आजाद कैदी को अपनी गाड़ी में बिठाकर सफलता के साथ वह बंबई चल पड़े।

कर्मठ, दबंग और अपने फैसले पर अटल तैयब अली ने ठान रखा था कि उनके बच्चो को उनकी आर्थिक क्षमता के अनुरूप सर्वोत्तम शिक्षा दिलाई जाये। उनका स्पष्ट विचार था कि भावात्मक तौर पर वे अपने धर्म और देश से जुड़े हों जबकि बौद्धिक रूप में उनका सारे विश्व के साथ संबंध हो। अतः उनके छह पुत्रों में से प्रत्येक को बारी बारी जहाज में बिठाकर इंग्लैंड रवाना किया गया ताकि उन्हें वह ज्ञान हासिल हो जिसे हम केवल समस्त विश्व की जानकारी कह सकते हैं। उनके बड़े पुत्र फ्रांस में अपने पिता की व्यावसायिक संस्था की ले-हाइवे स्थित शाखा से जुड़ गये। एक और पुत्र कमरुद्दीन सात वर्ष से अधिक समय तक इंग्लैंड में रहे और वहां भारतीय मूल के पहले सॉलिसिटर बने। दरअसल लंदन की अदालत में इस बात पर थोड़ा-बहुत विस्मय भी देखने में आया कि एक 'मुस्लिम सज्जन' ने अपना प्रशिक्षण पूरा कर लिया है और उन्हें बतौर अंग्रेज अटार्नी के शपथ दिलाई जानी है। कमरुद्दीन ने घोषणा की कि वे ईमानदारी से अपेक्षित शपथ नहीं ले सकते थे क्योंकि उसमें 'एक ईसाई की वास्तविक आस्था के अनुसार' शब्द शामिल थे। थोड़ी-सी उलझन के बाद उन्हें बाइबल के स्थान पर कुरान पर हाथ रखकर शपथ लेने की अनुमति

देने का फैसला किया गया और इस प्रकार वह 'पहले गैर-ब्रिटिश, गैर-ईसाई अंग्रेज अटार्नी' बने।

जब उनके भाई ने सॉलिसिटर के रूप में वकालत शुरू की तब बदरुद्दीन केवल पंद्रह वर्ष के थे। परंतु उन्होंने तय किया कि अब वह बैरिस्टर बनना ही पसंद करेंगे। उस समय लगता था कि यह अत्यधिक महत्वाकांक्षी इच्छा है। सभी बैरिस्टर, सभी जज और यहां तक कि उनके भाई कमरुद्दीन को छोड़, सभी सॉलिसिटर अंग्रेजी मूल के ही थे। पेशे के तौर पर कानून अंग्रेजों की जागीर थी—और यह असंभव लगता था कि आवश्यक योग्यता हासिल करने के बाद भी उन्हें इतना काम मिल सकेगा कि वह आराम से जीवन-निर्वाह कर सकें। यह मुश्किल अवश्य लगता था, परंतु वास्तव में इसमें कोई औपचारिक या कानूनी अड़चन नहीं थी। वे कठिनाइयां या असमर्थताएं जिनके साथ उन दिनों भारतीयों को निर्वाह करना पड़ता था दरअसल परिस्थितियों की देन थीं। ऐसा कोई कानून नहीं था जो किसी भारतीय को बैरिस्टर बनने से रोके। वास्तविकता यह थी कि बैरिस्टर बनने के लिए किसी भी व्यक्ति को अंग्रेजी भाषा और कानून, दोनों में जितना प्रवीण होना पड़ता, उसके लिए खूब परिश्रम और धन की जरूरत थी और इसे देखते हुए किसी भी भारतीय के लिए इसकी आकांक्षा करने का शायद प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अलावा, बैरिस्टर के लिए आवश्यक योग्यता प्राप्त करने के बाद भी यह कल्पना करना कठिन प्रतीत होता कि एक भारतीय, अंग्रेज-प्रधान बार के पक्षपात और द्वेष का सामना कर सकेगा और पर्याप्त मुकदमे प्राप्त करने में सफल होगा।

बहरहाल, बैरिस्टर बनने के मार्ग में किसी कानूनी अड़चन का न होना ही बदरुद्दीन के लिए खासा प्रोत्साहन था। वास्तव में 1858 में भारत की साम्राज्ञी बनने के अवसर पर महारानी विक्टोरिया की उद्घोषणा में विशेष रूप से आश्वासन दिया गया था कि 'हमारी प्रजा को चाहे वो किसी भी जाति या पंथ की हों' 'मुक्त रूप से और बिना किसी भेद-भाव के हमारी सेवा के पदों में प्रवेश दिया जायेगा।' इस महान उद्घोषणा को बंबई में टाउन हाल के चबूतरे पर पढ़ा गया था और संभव है कि बदरुद्दीन उस भीड़ में शामिल थे जो सामने सड़क पर उसे सुनने के लिए खड़ी थी। यह बात और है कि तब तक इसे शब्दों का आडंबर ही माना जाता था जो बगावत के दौरान और बाद में दिये गये जख्मों के लिए मरहम मात्र था और जिसे गंभीरता से नहीं लिया जाता था। इसके बावजूद बदरुद्दीन ने आजीवन इन खूबसूरत शब्दों को याद किया और उन्हें ऐसा वादा माना जो ब्रिटिश सरकार पूरा करेगी। बाद में जनसाधारण में व्यक्त उनके ज्यादातर विचार इस मान्यता पर आधारित थे कि उद्घोषणा में व्यक्त शानदार भाव केवल अतिश्योक्ति से भरे शब्द नहीं थे बल्कि एक वादा थे जिसे पूरा करना ही होगा। शायद पहली बार उन्होंने यह बात तब कही थी जब उन्होंने अपने मन में बैरिस्टर बनने का प्रयत्न करने की ठान ली।

बदरुद्दीन को ऐसा लगता था कि हालांकि सामाजिक और राजनैतिक तौर पर भारतीय अंग्रेजों के बराबर नहीं माने जाते, फिर भी कुल मिलाकर कानून के सामने उन्हें बराबर ही समझा जाता था। 'समान और निष्पक्ष कानूनी संरक्षण' का वादा, जो महारानी की उद्घोषणा में भी किया गया था, किसी भी पद पर प्रवेश के वादे की तुलना में, पूरा होने के ज्यादा निकट लगता था। अतः समानता का युद्ध भी कानून की अदालतों में ही लड़ा जाना था। भारत के आत्मसम्मान और विकास के लिए जूझने में बैरिस्टर ही सबसे अच्छा सिद्ध होता, चाहे वह व्यक्तिगत स्तर पर न्याय की मांग हो या जनता के स्तर पर उनके अधिकारों की बात। संक्षेप में, उन्होंने अपने पिता को राजी कर लिया कि वे उन्हे तुरंत इंग्लैंड जाने की अनुमति दें। कानून की पढ़ाई से पहले उन्हें हाइवे न्यू पार्क कालिज में भर्ती होना था और लंदन में मैट्रिक की परीक्षा देनी थी।

बैरिस्टर बनने के लिए इंग्लैंड जाने का यह महत्वपूर्ण निर्णय बगावत के एक वर्ष बाद लिया गया जब बदरुद्दीन पंद्रह वर्ष के थे। उन्होंने स्थानीय स्कूल की पढ़ाई पूरी कर ली थी और अधिक तो नहीं पर थोड़ी-बहुत अंग्रेजी समझने लगे थे। इसके अलावा वह असाधारण रूप से तीव्र विचार-शक्ति, तीक्ष्ण स्मरण-शक्ति, कठिन और लंबे समय तक मानसिक परिश्रम की क्षमता से तथा ऐसे व्यक्तित्व से संपन्न थे कि किसी भी लालच में वह अपने आत्मनिर्णीत कर्तव्यों की उपेक्षा नहीं करते। दुर्भाग्यवश उनमें नजर की कमजोरी और दुर्बल स्वास्थ्य जैसी अक्षमताएं भी थीं जिनके कारण कभी कभी वह अधिक समय तक काम नहीं कर पाते थे।

आप देखेंगे कि बदरुद्दीन के बचपन के बारे में बहुत कम कहा गया है। एक तरह से हम यह भी मान सकते हैं कि उनका बचपन सामान्य रहा भी नहीं होगा क्योंकि वह अपने कर्तव्यों को बालिगों जैसी गभीरता से निपटाते थे। मदरसे जाकर उन्होंने खूब परिश्रम कर उर्दू और अरबी का ज्ञान प्राप्त किया। बाद में, जब अन्य लड़के पढ़ाई से बचने में और अपने अपने खेलों में व्यस्त रहते, बालक बदरुद्दीन उत्साह और गंभीरता के साथ 'अध्ययन में जुटा होता'। नन्हां-सा यह लड़का इतना जिम्मेदार था उसे अक्सर उसी की आयु के रिश्ते के शरारती भाईयों की देखभाल का काम सौंपा जाता। एक बार जब अध्यापक ने ऐसे ही एक भाई की शिकायत की और उसके अभिभावक से मिलने को कहा तो बदरुद्दीन से, जो स्वयं दोषी बालक से खास बड़े नहीं थे, अध्यापक से मिलने को कहा गया। जब वह दोनों स्कूल की तरफ जा रहे थे तो शैतान लड़के ने किसी की ओर इशारा किया और यह कहकर गायब हो गया–'वाह, क्या खूब किस्मत है, वह रहे मेरे अध्यापक। तुम उनसे बात कर सकते हो।' बदरुद्दीन को एक नरम दिल बुजुर्ग के साथ बात करने को छोड़ दिया गया जो अध्यापक नहीं बल्कि निरा अपरिचित था।

यह कहानी केवल यह दिखाती है कि बदरुद्दीन चंचलता और नटखटपन के उस दौर

से नहीं गुजरे जो बड़े होने की सामान्य प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण अंग है। जब वह बैरिस्टर बनने इंग्लैंड गये तो उम्र के हिसाब से वह बालक ही थे। उससे कुछ वर्ष पहले तक उन्होंने अपने भावी पेशे के विषय पर ध्यान से विचार किया था। न केवल उन्होंने बार में शामिल होने की योग्यता प्राप्त करने की संभावनाओं को परखा था बल्कि वकालत की सफलता के बारे में भी सोचा था। उनके भाई कमरुद्दीन भारतीय मूल के पहले सॉलिसिटर थे और काम हासिल करने में वह उनकी सहायता पर भरोसा कर सकते थे। ऐसी योजनाओं ने उनके मस्तिष्क को पूरी तरह जकड़ रखा था और पंद्रह वर्ष की आयु प्राप्त करने तक वह इंग्लैंड जाकर पेशे में कूद पड़ने के लिए तैयार हो चुके थे। यह अचंभे की बात नहीं है कि उन्होंने शायद बचपन देखा ही नहीं होगा।

तकनीकी तौर पर 1860 में जब बदरुद्दीन पहली बार भारत से रवाना हुए, इंग्लैंड की जहाज यात्रा आज की अपेक्षा अधिक आसान थी। पासपोर्ट, वीजा, टीके, स्वास्थ्य की जांच, विदेशी मुद्रा संबंधी नियम जैसा कुछ नहीं था, आप टिकट खरीदते और जहाज पर चढ़ जाते। परंतु भावात्मक और मनोवैज्ञानिक तौर पर यात्रा आज से कहीं ज्यादा कठिन थी। पत्र पहुंचने में तीन या चार हफ्ते लगते थे, टेलीफोन करने की गुंजाइश ही नहीं थी और हम भारतीयों के लिए इंग्लैंड अब से अधिक अपरिचित और 'पराया' देश था। वहां की और हमारी जीवन शैलियों में इतना फर्क था जिसकी शायद कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। अंग्रेजी तौर-तरीके और रिवाज तथा अंग्रेजी भाषा तक से अधिकतर भारतीय अपरिचित और अनभिज्ञ थे। फिर भी, केवल पंद्रह वर्ष की आयु में परिवार से जुदा होने का चाहे कितना ही भावात्मक आघात पहुंचा हो, बदरुद्दीन एक जबरदस्त आशा के साथ इंग्लैंड को रवाना हुए। उन्हें मालूम था कि इंग्लैंड एक तोश खाना है जहां से केवल उत्कृष्ट शिक्षा ही नहीं बल्कि तरह तरह के विचारों, कलाओं और विधाओं का ज्ञान भी प्राप्त किया जा सकता था जिस पर वह उस भावी जीवन का निर्माण कर सकते थे जो उन्होंने अपने लिए तय कर रखा था।

यदि उनकी भारतीय मुस्लिम पृष्ठभूमि और नये अंग्रेजी वातावरण में अंतर पर ध्यान दें तो कोई संदेह नहीं रहता कि बदरुद्दीन असाधारण रूप से कम समय में ही इंग्लैंड में घर जैसा महसूस करने लगे थे। कहा जाता है कि वह अत्यंत सुंदर युवक थे। अपने व्यक्तित्व के कारण वह लंबे लगते थे हालांकि उनका कद औसत दर्जे का था। उनका आचरण बहुत सभ्य था जो निस्संदेह उनके सख्त पिता की देन थी। अच्छे आचरण को प्रत्येक स्थान पर अच्छे वातावरण के रूप में ही पहचाना जाता है, और ऐसे लोग किसी भी अन्य संस्कृति के ढर्रे में आसानी से ढल जाते हैं। उनके व्यक्तित्व के कारण बदरुद्दीन को अंग्रेजों के बीच स्वीकार ही नहीं किया गया था बल्कि स्वागत भी किया जाता था। इसके बावजूद उन्होंने मेहनत से अंग्रेजी रिवाजों के अनुरूप तकनीकी तौर पर सही आचरण का ज्ञान

प्राप्त किया, चाहे वह कांटा पकड़ने का सही ढंग हो या विभिन्न श्रेणी के लोगों को संबोधित करना हो।

उन पुराने, औपचारिकता से भरे दिनों में इंग्लैंड में आपस में 'उचित' और 'अनुचित' व्यवहार से संबंधित बहुत सारी बातें थीं, भले ही वह शिष्टाचार का क्षेत्र हो या उससे कहीं गहरा नैतिक क्षेत्र। यह कहा जा चुका है कि सज्जन पुरुष की तरह आचरण करने में हमेशा सच्चे आत्मनियंत्रण की उतनी ही आवश्यकता थी जितना कि एक सच्चे ईसाई के रूप में व्यवहार करने में। अच्छे मुसलमान के तौर पर अपने स्वाभाविक स्तर और आचरण के अलावा बदरुद्दीन ने एक अंग्रेज सज्जन की आचार-संहिता को भी सीखा और अपनाया।

एक बार फिर, हमें भाषा के स्थान और महत्व को पहचानने में तैयब अली की दूरदर्शिता की प्रशंसा करनी होगी। जैसा कि हमें ज्ञात है, उन्होंने अपने परिवार के उर्दू सीखने पर बल दिया ताकि वह अपने आपको केवल एक प्रदेश के नागरिक के बजाय पूरे उप-महाद्वीप का नागरिक समझें और उन्होंने अपने पुत्रों से अंग्रेजी सीखने का भी इसलिए आग्रह किया क्योंकि अंग्रेजी ही समस्त आधुनिक विश्व का सदस्य बनने का माध्यम थी। यह मात्र पढ़ने और बोलने के उद्देश्य से उस भाषा के ज्ञान का प्रश्न नहीं था। उनको इंग्लैंड भेजना यह सुनिश्चित करता कि वो अंग्रेजी सीखने के अतिरिक्त उस सारी संस्कृति, सभ्यता और मूल्यों की भी जानकारी हासिल करेंगे जिस पर वह भाषा आधारित है। वह अंग्रेजी-भाषी देशों में ही नहीं बल्कि तमाम पश्चिमी गोलार्ध में अपनत्व का अनुभव करेंगे। यह सच है कि अंग्रेजी में धारा प्रवाह बोलना विश्व-स्तर पर लाभदायक था और इससे सफलता और समृद्धि के द्वार खुलते। परंतु निस्संदेह जब तैयब अली ने अपने पुत्रों के अंग्रेजी सीखने पर बल दिया तो उनके मन में इसके अलावा बहुत कुछ और भी था। वह चाहते थे कि उनके पुत्रों को उस बौद्धिक विस्तार, दूरदर्शिता, सहनशीलता और विवेक की प्राप्ति हो जो किसी अन्य संस्कृति से निकट संपर्क की अनिवार्य देन है।

अपने पुत्रों को मातृभाषा की शिक्षा देने और उन्हें अंग्रेजी से पहले दस-ग्यारह वर्ष की आयु तक अरबी सिखाने की तैयब अली की योजना का आधुनिक शिक्षा-शास्त्री भी अनुमोदन करते। वह जानते थे कि भाषा ज्ञान प्राप्त करने के साथ साथ उस संस्कृति, विचारधाराओं की भी कुछ जानकारी हासिल करनी चाहिए जो भाषा-विशेष का अंग हैं। इस तरह बचपन की भाषा अपनी मातृभाषा है घर की, घरेलू और व्यक्तिगत जीवन की भाषा। बच्चा इसे तेजी और आसानी से सीख जाता है—वह अपने आपको व्यक्त कर सकता है और आमतौर पर इसके द्वारा कुशलता से निर्वाह कर सकता है। औपचारिक तौर पर सीखी गई दूसरी भाषा बाहरी दुनिया के लिए होती है और यह काम करने और सोचने की भाषा होती है।

भारत का यह सौभाग्य था कि जिस भाषा को हमें पेशेवर कार्यों, व्यवसाय, प्रशासन

और सार्वजनिक मामलों के लिए सीखना था वही सारे विश्व में व्यापक रूप से समझी और इस्तेमाल की जाती है। जैसा जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—वह 'विश्व का झरोखा' था और अंग्रेजी के अच्छे ज्ञान ने भारतीयों को विश्व के अधिकांश भागों के लोगों से विचार-विनिमय के योग्य बनाया। इससे हम विश्व भर की नयी जानकारी, नयी खोज और नये विचारों तक पहुंचने मे समर्थ हुए। अंग्रेजी भाषा रूपी यह मूल्यवान औजार बदरुद्दीन के हाथ तब लगा जब वे इंग्लैंड में स्कूल में भर्ती हुए।

भाषाओं पर बदरुद्दीन की तेज और अजब पकड़ थी। याद रखे कि इंग्लैंड आगमन के समय वह बहुत कम अंग्रेजी जानते थे। अठारह महीनों के भीतर ही वह 'सम्मान का विशेष प्रमाणपत्र' अर्जित कर चुके थे और न केवल अंग्रेजी में प्रवीणता के लिए बल्कि फ्रांसीसी भाषा की सपूर्ण जानकारी और पुरातन साहित्य (अर्थात लातीनी) व गणित में जबरदस्त तरक्की के लिए पुरस्कार प्राप्त कर चुके थे। उन्हीं दिनों, जब उन्हें इंग्लैंड में रहते केवल डेढ़ वर्ष हुआ था, उनके स्कूल ने चार नाटकों का मंचन किया - दो अंग्रेजी मे, एक फ्रांसीसी में और एक लातीनी में। इन चारों में ही बदरुद्दीन तैयबजी ने मुख्य भूमिका निभायी और 'दर्शकों पर अपनी गहरी छाप छोड़ी।'

यह सम्मान उनकी अच्छी तकदीर का एक उदाहरण मात्र नहीं था। उन्होंने ऐसी दो प्रमुख क्षमताओं का सबूत देना आरंभ कर दिया था जो उनकी जीवनवृति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने वाली थीं - पहली, कई भाषाओ के मामले में उनका ज्ञान और अधिकार। वह फ्रांसीसी, अरबी, फारसी, गुजराती, मराठी, उर्दू और अंग्रेजी में निपुण थे जबकि लातीनी भाषा का उनको विद्यार्थी-सुलभ ज्ञान था। इस देन के कारण उन्हें भारत में किसी के साथ भी, चाहे वह एक व्यक्ति हो या भारी संख्या में सार्वजनिक श्रोतागण, जटिल विषयों पर स्पष्ट और विस्तृत विचार-विनिमय करने में आसानी हो गई। बेहतर शब्द के चुनाव में हम दूसरी देन को भाषण-क्षमता कहेंगे - अच्छी आवाज और व्यक्तित्व का सम्मिश्रण। इससे वह अपने श्रोताओं को प्रभावित करने, प्रेरित करने और जीतने में सक्षम हुए। उनकी मधुर और सुरीली आवाज जीवनपर्यंत उनके लिए एक संपत्ति रही। और इस बात में संदेह नहीं कि स्कूल के चार नाटकों के लिए अभ्यास के समय अध्यापकों द्वारा दी गई हिदायतों को उन्होंने जीवन भर याद रखा होगा, इस्तेमाल में लाया होगा और सुधारा होगा।

यदि इंग्लैंड वह कारखाना था जहां बदरुद्दीन ने अपने भावी पेशे के औजार एकत्रित किये, तो उन्हें वहां से और क्या प्राप्त हुआ? शैक्षिक सफलताओं ने उन्हें स्वस्थ आत्मविश्वास प्रदान किया। अब वह जानते थे कि जातिगत तौर पर अंग्रेज भारतीयों की अपेक्षा अनिवार्य रूप से अधिक चतुर नहीं थे। उन्होंने स्वयं परीक्षाओं में अधिकतर अंग्रेज लड़कों से अधिक सफलता प्राप्त की हालांकि उन्होंने शुरुआत में कई प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना

किया था। इसके साथ ही अंग्रेजों से जुड़ी बहुत-सी ऐसी बातें थीं जिनको उन्होंने पसंद करना और उनका आदर करना सीखा। उन्हें भारत में प्रचलित अंधविश्वास से भरे कुछ रिवाजों और विचारों की तुलना में अंग्रेजों की निष्पक्षता का भाव, सिद्धांतों के प्रति उनका आदर और उनका सामान्य ज्ञान व बुद्धिवाद अधिक पसंद था। वह उनकी महिलाओं की शालीनता और गरिमा के तथा सामाजिक और घरेलू जीवन में उनके प्रभाव के प्रशसक थे। पुरुषों के कई कार्यकलापों में ये महिलाएं यदि भागीदार न भी हो तो रुचि अवश्य लेती थीं। वे सार्वजनिक विषयों और राजनीति पर बुद्धिमत्ता से बहस कर सकती थीं और अक्सर सार्वजनिक जीवन से संबद्ध महत्वपूर्ण पुरुषों के विचारों और आचरण को प्रभावित करती थीं। राजनीति पर उनका अप्रत्यक्ष प्रभाव किसी भी तरह नगण्य नहीं था। पत्नी के कर्तव्य का एक महत्वपूर्ण अंग था, ऐसी कसौटी के रूप में काम करना जिस पर उसका पति अपने मत या नीति को परख सकता था, जो एक ऐसी पत्नी ही निभा सकती थी जो महत्वपूर्ण मुद्दों के पीछे छिपी जटिलताओं के प्रति जागरूक हो। इसके अलावा, निजी और सार्वजनिक सभाओं में महिलाओं की उपस्थिति इन अवसरों को शालीनता और सौम्यता प्रदान करती थी। निस्संदेह पुरुष न केवल महिलाओं की उपस्थिति से आनंदित होते थे बल्कि उनके आचरण में भी अधिक मर्यादा देखने में आती।

भारत में, विशेषकर मुसलमानों में, पुरुषों और महिलाओं की दुनिया अलग अलग थी। भौगोलिक रूप से घरों को पुरुषों और महिलाओं के बीच मर्दाना और जनाना के तौर पर विशिष्ट रूप से बांट दिया जाता। इस बात की कल्पना भी नहीं की जाती थी कि किसी महिला को अपनी चार दीवारी से परे किसी भी मामले में कोई विशेष रुचि होगी। महिलाओं से घर से बाहर कदम रखने की अपेक्षा नहीं की जाती थी और नजदीकी रिश्तेदारों के अलावा उनका किसी से भी मिलना-जुलना मान्य नहीं था। पुरुषों से तो उन्हें पूर्णतया औपचारिक तौर पर मिलने की भी अनुमति नहीं थी। इन परिस्थितियों में यह आश्चर्यजनक नहीं है कि अधिकांश महिलाएं इतनी बुद्धिमान या जानकार नहीं थीं कि उनसे बातचीत भी की जा सके। इस तरह के अलगाव का एक परिणाम यह था कि साधारणतया पति और पत्नी के बीच सहचारिता नहीं थी। आपसी संबंध चाहे कितने ही स्नेहपूर्ण या नाजुक क्यों न हों, बौद्धिक आदान-प्रदान खासा दुर्लभ था। अंग्रेजी सामाजिक जीवन के प्रति उनके विचारों ने बदरुद्दीन को कायल कर दिया कि भौतिक और मानसिक तौर पर अपनी पत्नियों से अलग रहकर भारतीय पुरुषों को भारी नुकसान पहुंच रहा है। बाद में उन्होंने बड़ी कठिनाई से अपने मामलों में अपनी पत्नी को स्वयं शामिल किया। उन्होंने अपनी समस्याएं उन्हें समझाई और उनके समाधान पर विचार-विमर्श किया। सौभाग्य से उस महिला में प्रबल सामान्य ज्ञान, सिद्धांतों के प्रति उत्साह और सही मूल्यांकन के गुण थे और उनकी टिप्पणियां बदरुद्दीन के निर्णयों को बल देने में हमेशा उपयोगी रहीं।

इंग्लैंड में बदरुद्दीन ने अंग्रेजों की खेल-कूद में रुचि की प्रशंसा तथा उसका अनुसरण करना सीखा और शारीरिक स्वास्थ्य बनाये रखने में दिलचस्पी हासिल की। यह भी हमारी आदतों से भिन्न था। भारतीय मुसलमान पतंग उड़ाने, कबूतरबाजी, शिकार और घुड़सवारी में रुचि लेते थे। शिकार और घुड़सवारी जैसे कम आराम के मनोरंजनों का उद्देश्य भी शारीरिक हरकत नहीं था बल्कि यह मात्र शौक पूरा करने के तरीके थे। परंतु अंग्रेजों के खेलों से लगता था कि यह केवल जोरदार शारीरिक अभ्यास के लिए खेले जाते थे और अंत में एकमात्र पुरस्कार शायद स्वास्थ्य को होने वाला संभावित लाभ था। यह दृष्टिकोण आश्चर्यजनक तो था परंतु बदरुद्दीन इसके प्रशंसक थे और उन्होंने इसको जीवन भर अपनाया। खेलों में उनका प्रदर्शन खराब था—प्राकृतिक रूप से अनुपयुक्त होने के साथ नजर की कमजोरी के कारण यह निश्चित था कि वह बैडमिंटन का प्रत्येक गेम हारेंगे, परंतु वह खेलने में संलग्न रहे। उनका वास्तविक आनंद और व्यायाम था - घुड़सवारी। लेकिन लंबी दूरियों तक सैर करना उनके लिए उन जोरदार खेलों का विकल्प था जिनमें परिस्थितियों ने उन्हें भाग नहीं लेने दिया। हर शाम घर तक की दूरी का कुछ रास्ता पैदल चलना उनका दस्तूर था जबकि उनके वाहन को उनकी प्रतीक्षा करने आगे भेज दिया जाता।

स्वाभाविक है कि बदरुद्दीन ने इंग्लैंड में सही किस्म के मित्रों को खोजने और उनके सख्त से आचरण और तौर-तरीकों से स्वयं को अवगत कराने के सभी संभव प्रयास किये। उनके बहुत से रिवाजों की वास्तविक प्रशंसा करने के अलावा बदरुद्दीन को यह ज्ञात था कि जब तक आप किसी की पृष्ठभूमि को नहीं समझेंगे तब तक आप उसके साथ काम करने या उसे प्रभावित करने की आशा नहीं कर सकते।

जब बदरुद्दीन इंग्लैंड में छात्र थे तभी से उनकी नजर और स्वास्थ्य खराब होने लगे थे। वह दिन में सोलह घंटे अध्ययन किया करते थे। उनके डाक्टर ने उन्हें एक वर्ष आराम करने को कहा। 1864 में बदरुद्दीन एक वर्ष के लिए भारत आये हालांकि पिता की मृत्यु हो जाने और माता के मरण शैया पर होने के कारण वह वापसी दुखद थी। फिर भी अगले वर्ष तक वह काम पर वापस जाने को तैयार थे और उन्होंने वकालत की पढ़ाई शुरू कर दी। कुछ समय तक उन्होंने लंदन के एक सॉलिसिटर के दफ्तर में काम किया और प्रसिद्ध वकीलों को जिरह करते देखने न्यायालय जाते रहे। अप्रैल 1867 में उन्हें इंग्लैंड के बार में शामिल किया गया और उसके बाद शीघ्र ही वे काम करने के उद्देश्य से भारत लौट आये। परंतु इससे पूर्व उन्होंने इंग्लैंड और स्विटजरलैंड के रमणीय स्थलों की सैर और पहाड़ियों पर आरोहण करने का आनंद प्राप्त किया। पहाड़ियों पर चढ़ने का यह शौक उन्हें आजीवन रहा और उन्होंने माथेरन और महाबलेश्वर में मकान बनवाये जहां वह और उनके पुत्र बिना थके पैदल घूमा करते।

2

कानून

यह विचित्र बात है कि जब एक व्यक्ति विख्यात और सफल हो जाता है तो लोग उन सभी विषयों पर उसके विचारों को ध्यान से सुनते हैं जिनका उसकी विशेषज्ञता के क्षेत्र से कोई लेना-देना नहीं होता। एक सुप्रसिद्ध लेखक कला के बारे में भाषण दे सकता है, एक फिल्म अभिनेता शिक्षा के बारे में अपने विचार व्यक्त कर सकता है और यह निराली बात नहीं मानी जायेगी। परंतु कला के बारे में एक अज्ञात कलाकार के या शिक्षा के बारे में एक साधारण शिक्षक के विचार कोई नहीं जानना चाहता। बदरुद्दीन को सार्वजनिक मामलों में गहरी रुचि थी, परंतु वह जानते थे कि जब तक उन्हें अपने क्षेत्र में कामयाबी हासिल नहीं होगी तब तक उनके विचारों को गंभीरता से नहीं लिया जायेगा। क्योंकि कानून उनका क्षेत्र था अतः उनका पहला कर्तव्य था उसमें सफलता प्राप्त करना। इसलिए बंबई में वकालत शुरू करने के कुछ वर्ष बाद तक उन्होंने एकाग्रता से अपने काम पर ध्यान दिया - इस दृढ़ संकल्प के साथ कि वह अपनी वकालत जमा कर इतनी ख्याति प्राप्त करें कि उन्हें सार्वजनिक मामलों में भाग लेने का अधिकार प्राप्त हो सके।

बदरुद्दीन ने साहस के साथ फैसला किया कि शुरुआत चोटी से की जाये, अर्थात वकालत बंबई उच्च न्यायालय के उस भाग से की जाये जिसे 'मूल कक्ष' कहा जाता था। महत्वपूर्ण मामलों की सुनवाई यहीं पर होती थी, जैसे वे मुकदमे जो बड़ी कंपनियों के बीच हों, सरकार और सार्वजनिक संस्थाओं के बीच हों या ऐसे सभी अन्य मामले जो तगड़ी धनराशि से जुड़े हों। अब तक 'मूल कक्ष' में सभी बैरिस्टर अंग्रेज थे और उनके भाई कमरुद्दीन का सहारा एक कारण था कि बदरुद्दीन वहां शामिल हो सके। वकील की आवश्यकता पड़ने पर मुवक्किल पहले सॉलिसिटर के पास जाते थे जो उन्हें एक योग्य बैरिस्टर के पास भेजता था। इस तरह कमरुद्दीन अपने बैरिस्टर भाई को सदैव ही काम दे सकते थे और अपनी वकालत जमाने में बदरुद्दीन को इससे बहुत सहायता मिली। बाद में जब फिरोजशाह मेहता और रानाडे जैसे अन्य युवा भारतीयों ने 'मूल कक्ष' में वकालत करने का प्रयास किया तो वे असफल रहे और उन्हें 'अपील कक्ष' में जाना पड़ा जहां अपेक्षाकृत छोटी जिला कचहरियों की अपीलों के मामले आते थे अथवा कभी कभी उन्हें छोटे शहरों की ओर जाना पड़ता।

बदरुद्दीन ने पाया कि 'मूल कक्ष' में वकालत करने के बारे में उनके मित्रों ने उन्हें जो निराशाजनक चेतावनियां दी थीं, वे सभी सही थीं। हालांकि बैरिस्टर होने के नाते अब वह एक विशिष्ट वर्ग के सदस्य बन गये थे, फिर भी उन्होंने पाया कि तमाम अंग्रेजों के बीच अकेला भारतीय होने में कई हानियां थीं। वह उनके बीच तो थे, परंतु उनमें दाखिल नहीं हो सकते थे और इस प्रकार अपने ही सहकर्मियों के साथ उनका सामाजिक संपर्क कटा हुआ था। उन दिनों भारत में एक अंग्रेज का जीवन भारतीयों के साथ पूरी तरह से असंबद्ध था। उनका संपर्क शायद उन भारतीयों के साथ ही था जो घरेलू नौकर या मातहत थे। भारतवासी उनके सामाजिक जीवन से ही नहीं बल्कि किसी भी प्रकार के निकट और अनौपचारिक संपर्क से बहिष्कृत थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि बगावत से पहले अंग्रेज, जो साधारणतया बिना पत्नियों के भारत आये थे, भारतवासियों के साथ अत्यधिक अनौपचारिक ढंग से रहते थे। यहां तक कि उन्होंने अपनी जीवन शैली में भारतीय तौर-तरीकों और रीति-रिवाजों को इतना अपनाया कि उन्हें अक्सर 'भारतीय नवाब' का खिताब दिया जाता था। बगावत के बाद ब्रिटिश सरकार ने फैसला किया कि शासकों और शासितों के बीच अधिक फासला होना चाहिए और इस कारण अंग्रेज अधिकारियों को हुक्म दिया गया कि वो 'देसी' लोगों से दूर रहें और उनके साथ मेलजोल न रखें। अंग्रेज महिलाओं को भी भारत आने के लिए प्रोत्साहित किया गया और उनकी उपस्थिति ने वातावरण को एकदम शुष्क बना दिया। महिलाएं भारत में व्याप्त परिस्थितियों की अधिक सख्त आलोचक थीं और उनके विचार और परायी संस्कृति के प्रति उनका रुख एकाकी पुरुषों की अपेक्षा अधिक अनुदारवादी था। वास्तव में ऐसा कहा गया है कि जिस सामाजिक दंभ और छूट से ब्रिटिश महिलाओं ने भारतवासियों का अपमान किया उससे भारत में स्वाधीनता की मांग में तीव्रता आयी थी। अगर विदेशी शासन न्यायपूर्ण और सौम्य हो तो आम नागरिक उसकी हानियों की अनदेखी कर सकता था परंतु वह उस अपमान को नहीं सह सकता था जो केवल उसके रंग और जाति के पुरस्कार के तौर पर दिये गये हों।

स्वाभाविक है कि यदि अंग्रेजों ने खुल्लमखुल्ला किसी भी भारतीय के साथ 'मेलजोल' के खिलाफ निर्णय लिया हो तो यह तर्कसंगत है कि उनकी क्लबों की सदस्यता से उन्हें इस बात के बावजूद बेदखल रखा जाता कि इससे जबरदस्त नाराजगी पैदा होगी। यह किसी भी भारतीय के लिए खासतौर पर अपमानजनक था कि उसे सदस्य तो क्या अतिथि के तौर पर भी अंदर लाये जाने की अनुमति नहीं दी जाती और इसके बावजूद अंग्रेजों के प्रतिकार का उत्तर ढूंढ़ना कठिन था क्योंकि हम भारतीय स्वयं ऐसे गुटों में बंटे हुए थे जो आपस में एक-दूसरे के साथ बैठकर भोजन या मेलजोल तक नहीं करते थे। ऐसी परिस्थिति में यदि अंग्रेज हमारे साथ भोजन करने के अनिच्छुक थे तो हम कैसे आपत्ति करते?

प्राकृतिक बात है कि भारतीयों और अंग्रेजों के बीच सामाजिक पृथक्करण का प्रभाव पेशेवर जीवन में भी देखने में आया। कुछ अंग्रेज बैरिस्टरों ने बदरुद्दीन की उपस्थिति का खुले तौर पर विरोध किया और इससे उनके लिए काम प्राप्त करना आसान नहीं रहा।

उन्हें लगा कि मुकदमे हासिल करने के लिए उन्हें अपने आपको किसी भी अंग्रेज वकील की तुलना में कुछ बेहतर सिद्ध करने की आवश्यकता होगी, क्योंकि यदि अन्य बातें बराबरी की रहें, तो अधिकतर मुवक्किल, चाहे वो भारतीय हों या अंग्रेज, अपने मुकदमों के लिए अंग्रेज को ही तरजीह देते। उनका विश्वास था कि अंग्रेज बेहतर वकील साबित होगा। परंतु साथ ही उनका यह भी विश्वास था, हालांकि इसके बारे में कहते मुझे प्रसन्नता है कि यह साधारणतया गलत था, कि स्वयं अंग्रेज होने के कारण जज अपने साथी अंग्रेज बैरिस्टर की दलीलों से अधिक कायल होगा।

बदरुद्दीन के हृदय में वकालत के पेशे के प्रति मात्र उत्साह ही नहीं था; बल्कि उसके लिए उतना ही समर्पण था जितना एक कलाकार को चित्रकला के, एक संगीतकार को संगीत के प्रति होता है। एक बार उन्होंने अपने पुत्र को लिखा था, 'मैं, इसे (कानून को) विश्व का शायद सबसे महान पेशा मानता हूं' और साथ ही यह भी कहा, 'हालांकि यह पेशे की अपनी वजह से नहीं बल्कि उसे अपनाने का जो ढंग है, उससे मनुष्य को सम्मान मिलता है।' विस्तृत मायने में कानून का क्षेत्र असीमित है और इसकी हद वहीं जाकर समाप्त होती है जहां मानवीय गतिविधियां खत्म होती हैं। सब कुछ होते हुए भी, मनुष्य के पारस्परिक संबंधों और क्रियाओं के जाल के हजारों रेशों में से प्रत्येक को किसी न किसी कानून के अंतर्गत ही नियंत्रित करना पड़ता है। बदरुद्दीन ने वकील को उस व्यक्ति के रूप में वर्णित किया जिसके पास "ठोस और स्पष्ट मस्तिष्क हो, तथ्यों और कानून पर पूर्ण अधिकार हो, जो तर्कसंगत विश्लेषण कर सके और जिसमें संतुलित और सुबुद्ध व्यवस्था दोनों की क्षमता हो– ।"

बदरुद्दीन ने एक बार लिखा था, "जिसे वाकपटुता कहते हैं वह उच्च न्यायालय के पूर्णरूप से अनुपयुक्त है।" परंतु उनके अपने लिए तथ्यों व कानून की धाराप्रवाह और ओजस्वी व्याख्या और 'तर्कसंगत विश्लेषण' आपस में मिलकर वाकपटुता जैसा ही सिद्ध हुए क्योंकि बदरुद्दीन की 'वाकपटुता' की उनके समकालीन लोगों ने बार बार प्रशंसा की। शायद उन्होंने हमेशा यह नहीं समझा कि वाकपटुता केवल शालीन भाषण क्षमता की एकमात्र प्रतिभा नहीं बल्कि उपर्युक्त सभी गुणों का सम्मिश्रण थी जो कि स्वयं 'अनथक परिश्रम, विवरण पर पकड़, दृढ़ता और अध्यवसाय' जैसी नीरस बातों पर आधारित थी।

यद्यपि उनको अंग्रेजों के बीच नजदीकी तौर पर काम करना पड़ता, परंतु फिर बदरुद्दीन ने उनके जैसा ही दिखने का कोई प्रयास नहीं किया। उन्होंने सदैव पूरी दाढ़ी रखी, लंबे, ढीले साया के साथ अपना अंगरखा पहना और सुनहरे व सफेद रंग की पगड़ी बांधी। उनकी पाश्चात्य ढंग की पोशाकें केवल यात्राओं और पिकनिकों के लिए रखी रहतीं।

एक तरह से लगता था कि वह अपनी भारतीयता का जानबूझकर प्रदर्शन करते थे, जबकि, पेशेवर हो या वास्तविक जीवन में वह उन झिड़कियों को बरदाश्त नहीं करते जिन्हें 'देसी' लोगों को उन दिनों सहना पड़ता। शांति के समय झिड़कियां अस्वीकार करने की उनकी कई कहानियां हैं। एक बार एक अंग्रेज जज अदालत में उन्हें ठीक से सुन नहीं पाये और कुछ कटुता के साथ उन्हें ऊंचा बोलने को कहा। बदरुद्दीन को लगा कि निवेदन में नम्रता की कमी है और वह बुदबुदाते रहे। जब अनेक बार खीझ के साथ चिल्लाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ा तो अंत में जज को नम्रता के साथ श्रीमान तैयबजी से अनुरोध करना पड़ा कि वह कृपा कर थोड़ा जोर से बोलें। श्री तैयबजी ने शिष्टता के साथ इसका अनुपालन किया।

यह प्रथा थी कि जब एक नया जज नियुक्त होता तो बैरिस्टर शिष्टाचार के नाते भेंट करने उनके घर जाते। औपचारिकताओं के प्रति अत्यंत जागरूक बदरुद्दीन भेंट करने गये तो जज ने, जिसे शायद एक भारतीय के आने की प्रतीक्षा नहीं थी, एकदम कहा, 'मैं आपके लिए क्या कर सकता हूं? मैं कुछ व्यस्त हूं।' बदरुद्दीन ने नम्रता से कहा, 'मैं भी', और घबराये हुए जज के उन्हें रोकने के प्रयासों के बावजूद तुरंत चल दिये।

निस्संदेह अधिकांश अंग्रेज ऐसे क्षेत्र में एक भारतीय की ख्याति और प्रसिद्धि से प्रसन्न नहीं होते थे जो उनके विचार में उनके लिए सुरक्षित था और ऐसे भारतीय होने के नाते जिसने अब तक उन्हीं के लिए सुरक्षित बार में प्रमुखता प्राप्त की, बदरुद्दीन खासी दुर्भावना और द्वेष का शिकार थे। परंतु फिर भी उन जजों के पक्ष में जिनके सम्मुख वह मुकदमे लड़ते, यह कहना होगा कि वे ईमानदारी के साथ बदरुद्दीन की राष्ट्रीयता से प्रतिकूल रूप से प्रभावित हुए बिना न्याय करते थे। एक बार जब एक अंग्रेज संवाददाता ने किसी मामले में बदरुद्दीन की बहस का द्वेषपूर्ण वृतांत लिखा तो जज ने अगले दिन अदालत में उसका जमकर खंडन किया। उसने कहा, 'श्री तैयबजी, मैं यहां आपको और साथ ही बांबे गजट के संवाददाता को देखकर प्रसन्न हूं क्योंकि मैं इस मुकदमे के बारे में कल की सुनवाई पर छपी रिपोर्ट पर कुछ टिप्पणी करना चाहता हूं। अखबार का कहना है कि आपने अपने मुवक्किल के बचाव में 'अनाप-शनाप और निरर्थक' भाषण दिया। क्योंकि ये टिप्पणियां अनुचित हैं और इनसे एक युवा बैरिस्टर को नुकसान पहुंच सकता है, मैं यह कहना अपना कर्तव्य मानता हूं कि मेरे विचार में टिप्पणियों का जरा-सा भी आधार नहीं है। मैं समझता हूं कि मुकदमे को आपने अत्यंत क्षमता के साथ संभाला और कैदी की रिहाई का मुख्य कारण जूरी के समक्ष संबोधन में आपकी योग्यता और कुशलता है।' यह सिद्ध करने के बहुत से ऐसे ही उदाहरण थे कि एक जज का न्याय-भाव केवल कानूनी विषयों में ही नहीं बल्कि जीवन के सभी पहलुओं में व्याप्त और प्रतिबिंबित होना चाहिए।

पोशाक या दिखावे में शासक जाति का समनुरूप बनने का कोई प्रयास न करते हुए भी बदरुद्दीन ने ऐसा जीवन स्तर बनाये रखा जो स्वयं अंग्रेज गवर्नर के लिए भी लज्जाजनक

नहीं होता। वह एक ऐसे परिवार के सदस्य थे जिसमें पुरुषों को जीवन की अच्छी और सुखदायी चीजें तो पसंद थीं पर इनमें सुरा और सुंदरी शामिल नहीं थे। बदरुद्दीन का घर बीच कैंडी की वह भव्य हवेली थी जो अब सोफिया कालेज है और उनका मैदान सत्रह एकड़ क्षेत्र में फैला हुआ था। उन्हें अपने मकान, उद्यान, घोड़ों और वाहनों के मामलों में असाधारण रुचि और अभिमान था। उनका मकान सुंदर और भव्य था और उस व्यक्ति पर जिसका ऐसी संपत्ति पर अधिकार हो, सामाजिक उपेक्षाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता था। उनका शायद उन्होंने कुछ आनंद ही लिया होगा।

हालांकि उन्हें सौंदर्य और पवित्रता से घिरा रहना अच्छा लगता था, व्यक्तिगत तौर पर बदरुद्दीन में विषयासक्ति कदापि नहीं थी। उनकी आदतें नियमित और अनुशासित ही नहीं बल्कि आडबरहीन थीं। वह कड़ा और निरंतर परिश्रम करते थे और अपने मस्तिष्क की तीक्ष्णता के कारण वह अपने लंबे कार्यकाल में अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक उपार्जित करते। उनका प्रिय पेय था ठंडा पानी और प्रिय शौक सैर या पिकनिक पर जाना। वह घुड़दौड़ देखने कभी नहीं गये, जुआ कभी नहीं खेले और शराब, पत्तेबाजी व नाच की महफिलों से हमेशा दूर रहे। उनके स्वभाव में छिछोरापन तो क्या निश्चिंतता तक नहीं थी। उनकी शुद्धता, औपचारिकता और गंभीरता उस समय भी उनका साथ न छोड़ती जब वह अपने घर में या परिवार के बीच होते। मित्रों की, अर्थात ऐसे लोगों की कोई कमी नहीं थी जिनके साथ उनका परस्पर सम्मान और समादर भाव था और जो उनसे परामर्श और सहायता मांगते थे। परंतु घनिष्ठता शायद ही किसी के साथ थी।

अपने आचरण के बारे में तुनकमिजाज तो थे ही, बदरुद्दीन कानूनी शिष्टाचार का पालन करने के विषय में भी, जो कि इंग्लैंड के बार की एक महत्वपूर्ण परंपरा है, अत्यंत सावधान थे। इस आचार-संहिता के अनुसार कोई भी वकील अपने मुवक्किल की जाति, धर्म या राजनीति की नापसंदगी के कारण मुकदमा लड़ने से इंकार नहीं कर सकता था। वह मुकदमे को केवल उस स्थिति में अस्वीकार कर सकता जब उसके पास उसे लड़ने का समय न हो। न तो वह बहुत अधिक पारिश्रमिक लेगा न ही बहुत कम। विशेष रूप से, वकील अपने मुवक्किल को बचाने के लिए कभी भी प्रत्यक्ष रूप से झूठ नहीं बोल सकता था। वह केवल प्रमाण या कानून में खामियों की तलाश कर सकता था। बदरुद्दीन ने स्वयं अपने उदाहरण से और अन्य लोगों पर नैतिक दबाव डालकर बंबई उच्च न्यायालय में इन परंपराओं की स्थापना में सहायता की।

दुर्भाग्यवश, उनके मुकदमों के विवरण उपलब्ध नहीं हैं हालांकि यह कहा जाता है कि जब वह किसी मामले में बहस करते तो उनकी शैली को सीखने के उत्सुक युवा वकीलों से अदालत भरी होती थी। उनकी दो विशेषताओं का बहुत-से लोगों ने खास उल्लेख किया है। पहला था, ध्यान से तैयार की गई बहस की एक दिशा पर डटे रहने में उनकी दृढ़ता। बचाव या अभियोजन की उनकी चुनी हुई दिशा से न तो उन्हें विचलित किया जा सकता

था और न ही उन्हें गौण प्रश्नों की ओर आकर्षित किया जा सकता था। हम में से अधिकतर लोग जब किसी दैनिक विषय पर भी एक पक्ष लेते हैं तो विभिन्न मौकों पर अलग अलग मुद्दों पर बल देकर, छोटी छोटी बातों को बढ़ा-चढ़ा के पेश कर और मुख्य अथवा बुनियादी तथ्य की अवहेलना कर मामले को बिगाड़ देते हैं। बदरुद्दीन की दृष्टि इतनी स्पष्ट थी कि वह किसी मामले के मुख्य और सीमांत अथवा अप्रासंगिक कारकों के बीच भेद कर सकते थे। उन्हें कभी भी कमजोर तर्कों पर समय या शक्ति नष्ट करने को झुकाया नहीं जा सकता था। उन्हें ज्ञात था कि एक ठोस और पक्की दलील, विशेषतया यदि वह सिद्धांत पर आधारित है, तो अकाट्य सिद्ध होगी। एक साथ अनेक कारण विश्वास के योग्य ही नहीं बल्कि बाद के विचार या बहाने माने जा सकते हैं। बदरुद्दीन यह भी जानते थे कि एक ही तथ्य की कई तरह से व्याख्या की जा सकती है।

एक मामले में बदरुद्दीन एक युवा भारतीय का बचाव कर रहे थे जिस पर एक अंग्रेज आई.सी.एस. अफसर को घूस देने का अभियोग था। यह एक गंभीर आरोप था और उस युवक को निचली अदालत में दोषी करार दिया जा चुका था। उन्होंने अपने बेहतरीन तर्क चुने और न तो उनसे हटे और न ही दो-तीन असंबद्ध, भले ही मान्य, तर्कों पर निर्भर होने की गलती की। वास्तविक घटनाक्रम के विषय पर कोई विवाद नहीं था, परंतु वास्तविक निर्णय एक व्यक्ति की गवाही के खिलाफ दूसरे की, दरअसल एक अंग्रेज के मुकाबले एक भारतीय की उक्ति पर आधारित था और जो साक्ष्य अधिक विश्वसनीय लगता था उसे स्वीकार किया गया। बचाव पक्ष की ओर से वकालत करते हुए बदरुद्दीन ने यह मत व्यक्त किया कि एक ही तरह के तथ्यों को कइ तरह से प्रस्तुत किया जा सकता है। उन्होंने एक एक प्रमाण को ध्यानपूर्वक दोहराते हुए मुकदमे की शुरुआत की। जजों ने, जो कि फैसले के बारे में पहले से ही निश्चय कर चुके लगते थे, एक-दो बार हस्तक्षेप करने का प्रयास किया, पर असफल रहे। अंत मे एक जज ने उन्हें टोक कर कहा कि वे सारे साक्ष्य पढ़ चुके हैं। बदरुद्दीन ने उत्तर दिया, “श्रीमान, मैं यह कहने का साहस करना चाहूंगा कि आप महानुभावों ने साक्ष्य को अपनी तरह से पढ़ा है। मेरा उद्देश्य, श्रीमान, यहां उसे मेरी अपनी तरह से पढ़ना है और तभी आप महानुभाव मेरी दलील समझ सकेंगे। बदरुद्दीन जजों को मनवाने में सफल हुए कि उनके मुवक्किल के खिलाफ जो मामला है उसमें दम नहीं है। यह एक असाधारण उपलब्धि थी क्योंकि : (क) जजों ने अभियुक्त के दोषी होने के बारे में पहले ही निश्चय कर रखा था, (ख) बदरुद्दीन ने कोई नया साक्ष्य नहीं जुटाया और मामले की पैरवी उन्हीं पुराने साक्ष्यों को नयी तरह से पेश कर की, जिन पर उनका मुवक्किल एक मजिस्ट्रेट की कचहरी में मुकदमा हार चुका था, और (ग) फरियादी एक अंग्रेज आई.सी.एस. अफसर था (जो उन दिनों ईश्वर समान थे) जबकि प्रतिवादी एक साधारण भारतीय था।

कचहरी में बदरुद्दीन की शैली की एक और महत्वपूर्ण विशेषता थी, उनकी जिरह का ढंग। जिरह का उद्देश्य 'सत्य तक पहुंचना' है। यदि एक व्यक्ति बिलकुल सच बोल रहा है, तो आप उससे जो भी प्रश्न करें उसके उत्तर में एक सुसंगत संपूर्णता दिखाई देगी। दूसरी ओर, यदि एक व्यक्ति सच नहीं बोल रहा है तो उसके उत्तर बेतरतीब, परस्पर-विरोधी, असंगत और स्वाभाविक तौर पर अविश्वसनीय होंगे। हम सब अपने अनुभव से जानते हैं कि बिना किसी गहरी पूछताछ के भी एक छोटे से झूठ की सफाई देना कितना कठिन है। कचहरी में गवाह से जिरह के दौरान, वकील उससे मामले के तथ्य पाने का प्रयत्न करता है। वह यह भी कोशिश करता है कि प्रश्नों को इस तरह से पूछा जाये कि जजों को गवाह की विश्वसनीयता अथवा अविश्वसनीयता और उसके साक्ष्य पर कितना अधिक या कम भरोसा करना चाहिए, यह सिद्ध किया जा सके। 'सत्य तक पहुंचने' के लिए बदरुद्दीन की जिरह के तरीके सदैव प्रभावशाली थे और उनके सहकर्मियों द्वारा सराहे जाते थे।

बदरुद्दीन स्वभाव से तो अधीर थे, परंतु उन्होंने काम के मामले में सहनशील और शांत रहना सीखा। गवाहों से उनकी जिरह धीमी, सतर्क और संपूर्ण होती थी और वह अपने प्रश्नों को इस प्रकार संभालते थे कि जज और जूरी दोनों स्वयं ही गवाह के बयानों की तर्कसंगति या असंगति को देख सकते थे। दुर्भाग्य से कचहरी में उनके जिरह के विवरण हमारे पास उपलब्ध नहीं हैं। परंतु लंदन में मुक्ति-सेना से उनकी मुठभेड़ की उनके पुत्र द्वारा बतायी गई एक कहानी उनकी पद्धति को स्पष्ट करती है।

यह घटना हरे कृष्ण आंदोलन से तीन-चौथाई सदी पहले उस समय घटी जब ईसाई धर्म-प्रचारक इस बात के कायल थे कि अन्य सभी धर्मों के अनुयायी विधर्मी थे और नर्क की आग उनकी नियति में बदी थी। कहानी इस प्रकार है :

एक बार जब वह लंदन की सड़कों पर घूम रहे थे तो पीछे से एक मुक्ति-सैनिक आया और उन्हें संबोधित कर बोला, 'श्रीमान! मैं उम्मीद करता हूं कि आपकी आत्मा बची हुई है।' आश्वस्त भाव से बदरुद्दीन ने उत्तर दिया, 'मैं यह उम्मीद करता हूं, श्रीमान।'

मुक्ति-सैनिक : मुझे अति प्रसन्नता है, महोदय। तो, आप ईसाई हैं?

बदरुद्दीन : नहीं महोदय, मैं ईसाई नहीं हूं।

मुक्ति-सैनिक : तो फिर आप कौन हैं?

बदरुद्दीन : मैं मुसलमान हूं।

मुक्ति-सैनिक : परंतु वो तो सच्चा धर्म नहीं है। केवल ईसाइयों की आत्माओं की हमारे प्रभु ईसा मसीह रक्षा करेंगे।

बदरुद्दीन : ऐसा है?

मुक्ति-सैनिक : बिल्कुल ऐसा ही है।

बदरुद्दीन : आपको इस्लाम के बारे में तो सब कुछ मालूम होगा?
मुक्ति-सैनिक : नहीं, मैं उसके विषय में कुछ भी नहीं जानता।

अब तक बदरुद्दीन मुक्ति-सैनिक पर अच्छी तरह काबू पा चुके थे और उन्होंने तीखे स्वर में उससे कहा, "तो फिर महोदय, आपकी हिम्मत कैसे हुई कि एक अपरिचित के पीछे पड़ आप उसके धर्म को मिथ्या बतायें जबकि आप स्वयं उसके बारे में कुछ भी नहीं जानते हैं?" अचानक तथ्य का यह मोड़ और प्रहार इतना अप्रत्याशित था कि मुक्ति-सैनिक अस्तव्यस्त होकर भाग गया।

यह कहानी है तो छोटी-सी, लेकिन यह स्पष्ट करती है कि किस तरह बदरुद्दीन शांति और धैर्य के साथ गवाह को अपने आपको खोलकर रख लेने देने और फिर उसे पकड़ लेते थे।

उनके मस्तिष्क की कार्यप्रणाली के बारे में हम एक और दृष्टांत देना चाहेंगे, हालांकि एक बार फिर, घटनाक्रम का कचहरी से कोई संबंध नहीं है। संयोगवश ब्रिटिश शासन के आरंभ से ही एक ऐसा कानून था जिसके अनुसार यदि कोई अंग्रेज अपराध करे या प्रतिवादी के रूप में न्यायालय में पेश हो तो उसके मामले पर अंग्रेज जज ही विचार कर सकता था। अन्य शब्दों में, किसी भी भारतीय जज को किसी यूरोपीय से संबंधित मामले पर विचार करने का अधिकार नहीं था। अन्य बातों के अलावा, इसका यह अर्थ भी था कि जब भारतीय सिविल सेवा के भारतीय मूल के सदस्य मजिस्ट्रेट बनते तो उसी सेवा के अंग्रेज सदस्यों की तुलना में उनके अधिकार कम होते। 1883 में लार्ड रिपन ने, जो अत्यंत बुद्धिमान और न्यायी वाइसराय थे, महसूस किया कि इस अति अनुचित कानून में संशोधन किया जाना चाहिए और एक नया कानून अथवा बिल तैयार किया गया जिसके अंतर्गत अंग्रेज और भारतीय, दोनों को भारतीय जजों के न्यायाधिकार में शामिल किया गया। यह न्याय की धारणा के विपरीत था - कोई भी यूरोपीय एक 'देसी' मजिस्ट्रेट से न्याय की अपेक्षा नहीं कर सकता था। मुकदमे में गोरे आदमी के समक्ष ही प्रस्तुत होना, आदि, अंग्रेज का चिर-सम्मानित विशेषाधिकार था।

बदरुद्दीन इस विषय में पहले से ही सरकारी अधिकारियों के साथ पत्र-व्यवहार में जुटे हुए थे। जब बंबई सरकार के मुख्य सचिव ने इल्बर्ट बिल पर उनकी राय जानने के लिए पहली बार पत्र लिखा तो बदरुद्दीन ने सावधानी से परिस्थिति का विश्लेषण किया और अपनी राय से अवगत कराया था। उन्होंने यह कहकर समाप्त किया, "मेरे विचार में—न्यायकरण में जाति से संबंधित प्रश्नों को जोड़ना सर्वथा अनुचित है। मैं यह भी सोचता हूं कि वर्तमान कानून प्रतिज्ञाबद्ध सिविल सेवाओं के यूरोपीय और 'देसी' सदस्यों के बीच ऐसा द्वेषजनक और कटुतापूर्ण भेद उत्पन्न करता है जिसे कदापि सहन नहीं करना चाहिए। मेरी यह भी राय है कि यूरोपीय ब्रिटिश लोगों पर केवल उन्हीं की जाति के जजों द्वारा

मुकदमा चलाने का उद्देश्य न्यायकरण की प्रतिष्ठा घटाना और यह राय पैदा करना है कि इस असंगति का अभिप्राय निष्पक्ष न्याय करना नहीं बल्कि यूरोपीय अपराधियों की रक्षा करना है।"

ब्रिटिश समुदाय में प्रस्तावित संशोधन के विरुद्ध घोर अपमान की भावनाएं इतनी सशक्त थीं कि कुछ अंग्रेजों ने श्री इल्बर्ट पर अधिनियम का प्रस्ताव करने और लार्ड रिपन पर उसका समर्थन करने के विरोध में पथराव करने तक का फैसला किया। वाइसराय का सामाजिक बहिष्कार तक किया गया और कहा जाता है कि कुछ युवा-क्रोधियों ने उनका अपहरण करने और उन्हें इंग्लैंड वापस भेजने तक की योजना बना ली। अब तक हमें ऐसे उद्दंड व्यवहार की आदत पड़ चुकी है परंतु उन दिनों यह कल्पना से लगभग परे ही था।

वास्तव में यूं लगा कि इस मामले में लोगों का दिमाग ही खराब हो गया और उनकी नाराजगी में इतना जहरीलापन था कि सामान्य तौर पर भारतीयों पर हर तरह की गालियों की बौछार हुई। उस समय की राजधानी कलकत्ता में यूरोपीयों ने एक बड़ी बैठक का आयोजन किया और अधिनियम व वाइसराय के खिलाफ तथा सभी भारतीयों के विरुद्ध, जो कि स्वाभाविक तौर पर अधिनियम के पक्ष में थे, खूब गाली-गलौच और अपमान का प्रदर्शन किया गया।

तीन मित्रों, बदरुद्दीन, फिरोजशाह मेहता और काशीनाथ त्र्म्बक तेलंग ने, जो बंबई में लोकमत के नेता बन गये थे, अब यह महसूस किया कि उन्हें बंबई में एक सभा करनी चाहिए क्योंकि किसी तरह का प्रत्युत्तर आवश्यक था। बंबई में तब तक आयोजित सबसे महत्वपूर्ण और बड़ी सभाओं में से यह एक साबित हुई।

बदरुद्दीन के उस दिन के भाषण से हम उद्धृत करना चाहेंगे क्योंकि हमारा विचार है कि किसी भी मामले के पक्ष और विपक्ष में दलील देने के वक्त उनके मस्तिष्क की कार्य प्रणाली का यह उत्कृष्ट उदाहरण है। इल्बर्ट अधिनियम के बारे में भाषण देते हुए उन्होंने कहा :

> हम शांति और तटस्थता के साथ - और मैं विश्वास करता हूं कि अपने लिए किसी अनादर तथा दूसरों के साथ किसी अन्याय के भाव के बिना दंड प्रक्रिया संहिता में प्रस्तावित संशोधनों पर बहस करने के लिए इकट्ठा हुए हैं। सज्जनो, मैं उन लोगों में से हूं जिनका विचार है कि कठोर, आवेगपूर्ण और अपमानजनक भाषा उद्देश्य के पूरा न होने का सबसे पक्का सूचक है—और मुझे अत्यंत खेद होगा यदि आज की शाम मेरे या किसी अन्य वक्ता के मुख से ऐसा शब्द, वाक्य या भाव व्यक्त हो जाये जिसे महामहिम की प्रजा के किसी भी वर्ग के लिए वास्तव में अपमान माना जा सके—परंतु सज्जनो यदि मैं इस प्रकार संयम बरतने का परामर्श देता हूं तो वह इस

कारण कदापि नहीं है कि (कलकत्ता में आयोजित) एक विशाल सार्वजनिक सभा में समस्त भारतवासियों को अभूतपूर्व रूप से अपमानित किये जाने पर मुझे रोष नहीं है, बल्कि इस कारण कि मेरी अभिलाषा है कि हमारे देशवासी अत्यंत कठिन परिस्थितियों में भी धैर्य और आत्मसंयम बरतने का असाधारण और स्मरणीय उदाहरण प्रस्तुत करें।

इन शब्दों में गांधीजी के अहिंसा के पाठ के पूर्व-संकेत देखे जा सकते हैं।

इसके पश्चात उन्होंने उन सभी तर्कों का विवरण दिया जिनको कारण बताकर एक भारतीय को अंग्रेज के मुकदमे में न्याय करने के अधिकार से वंचित रखा गया था और एक एक कर उन सबको उखाड़ फेंका।

यह आरोप लगाया जाता है कि हमारे 'देसी' मजिस्ट्रेट और जज, यूरोपीय समुदाय, विशेषरूप से निम्न वर्गों की आदतों और रिवाजों से परिचित नहीं हैं। यदि यह तर्क ठोस है तो भारत में यूरोपीय जजों को इस देश के 'मूल निवासियों पर न्याय करने के अधिकार से तुरंत वंचित कर देना चाहिए क्योंकि यह बात भी अत्यंत स्पष्ट है कि उच्च न्यायालय के जज भी अधिकांश 'मूल' निवासियों के विषय में शायद ही कोई जानकारी रखते हों।

हमारे प्रतिज्ञाबद्ध सिविल सेवा के 'देसी' अधिकारी, जो कई वर्ष इंग्लैंड में बिता चुके हैं और जिनका भारत में स्थित यूरोपीय समुदाय के उच्चतम वर्गों के साथ बेहिचक मेलजोल है, यदि इस कारण यूरोपीय अपराधियों के मामलों की सुनवाई के अयोग्य हैं कि उन्हें अभियुक्त की आदतों का संपूर्ण ज्ञान नहीं है तो यह भी स्पष्ट है कि इंग्लैंड से ताजा आये और (स्थानीय) भाषा से अनभिज्ञ यूरोपीय जज इस देश के 'मूल' वासियों के मामलों की सुनवाई के लिए कहीं अधिक अयोग्य होंगे—यह दावा किया जा रहा है कि यह यूरोपीय समुदाय का अत्यंत प्रिय विशेषाधिकार है (कि उनके मामलों पर यूरोपीय ही विचार करें) और इसे छीना नहीं जाना चाहिए क्योंकि यह इस देश के 'मूल' वासियों के साथ कोई अन्याय नहीं है। परंतु सज्जनो, इससे बढ़कर अन्याय क्या होगा कि किसी अंग्रेज के खिलाफ शिकायत रखने वाले फरियादी और उसके गवाह को केवल इस कारण यूरोपीय मजिस्ट्रेट की खोज में भारी लागत और असुविधा के साथ लंबी और थकाऊ यात्रा करने के लिए बाध्य किया जाये क्योंकि नजदीक का 'देसी' मजिस्ट्रेट निस्संदेह अपनी जाति की वजह से अभियोग को निपटाने के अयोग्य है।

इसके अतिरिक्त, सज्जनो, भारतीय समुदाय के प्रति इससे अधिक क्या अन्याय होगा कि उनकी योग्यताओं का लिहाज किये बिना हमारे कुशलतम 'देसी' मजिस्ट्रेटों और जजों को घटिया किस्म के लोग घोषित किया जाये जो न्यायिक क्षमता के उस ऊंचे

स्तर तक नहीं पहुंच सकते जो यूरोपीयों के मामलों पर विचार कर सकने के लिए आवश्यक समझा जाता है। सज्जनो, मैं यह यकीन रखता हूं कि कानून की वर्तमान स्थिति न केवल अन्यायपूर्ण है बल्कि हमारे लिए अपमानजनक है। यह सर्वप्रथम अपमानजनक इसलिए है क्योंकि यह हमारे कुशलतम, सर्वोच्च तथा अति विशिष्ट न्यायिक अधिकारियों पर घटियापन का कटु और स्थायी आरोप लगाती है। यह हमारे लिए अपमानजनक है क्योंकि यह उसे प्रतिज्ञाबद्ध सेवा के यूरोपीय और 'देसी' सदस्यों के बीच द्वेषपूर्ण भेद पैदा करती है। यह हमारे लिए अपमानजनक है क्योंकि यह ब्रिटेन के यूरोपीय नागरिकों को ऊंचा दरजा देती है कि हमारे न्यायिक अधिकारियों को उन्हें एक दिन का कारावास देने अथवा एक रुपया जुर्माना करने को भी अक्षम घोषित करती है। यह हमारे लिए अपमानजनक है क्योंकि अगली ही सांस में वे हमारे अपने देशवासियों को इतना नीचा दिखाती है कि ऐसे अकुशल और नालायक मजिस्ट्रेटों और जजों को, जो एक अंग्रेज के खिलाफ हमले के छोटे-से मामले की सुनवाई करने के भी योग्य नहीं माने जाते हैं, अपने करोड़ों देशवासियों पर गंभीर विषयों पर मुकदमा चलाने के, यहां तक कि उन्हें मृत्यु-दंड देने के लिए भी योग्य और सक्षम बताती है।

और, अधिनियम के विरोध में यूरोपीय लोगों द्वारा किये जा रहे आंदोलन की वजह से उसे वापस लिए जाने के खिलाफ सरकार को चेतावनी देते हुए उन्होंने कहा :

वर्तमान परिस्थितियों में बिल को वापस लेने को आवेश और पक्षपात के प्रति उचित और तर्कसंगत विषय का समर्पण- शांत और आदरणीय प्रतिवेदन के बदले, चाहे वो कितना ही न्यायपूर्ण और सुप्रमाणित क्यों न हो, उग्र आंदोलन की विजय से कम नहीं माना जा सकता।

यह भाषण कई बार पढ़ने और ध्यानपूर्वक विश्लेषण के योग्य है। यदि आपको या मुझे इल्बर्ट बिल के विषय में बोलने को कहा जाये तो हमारा सारा भाषण शायद 'उनकी क्या हिम्मत–', हम क्यों करें–', 'उन्हें क्या अधिकार है–, आदि जैसे उद्गारों से भरा होगा। लेकिन बदरुद्दीन ने तथ्यों और तर्कों को जिस सुबुद्ध ढंग से जुटाया और उन्हें जिस सुंदर, मनोहर व ओजस्वी परंतु सशक्त भावपूर्ण भाषा में प्रस्तुत किया, वह बतौर वकील उनके योगदान का अत्युत्तम उदाहरण है।

इल्बर्ट बिल की कहानी का विचित्र अंत हुआ। ब्रिटिश समुदाय का रोष इतना गहरा था कि एक बार तो लगा कि वो ब्रिटिश सरकार को अधिनियम के समर्थक और उपचारक लार्ड रिपन को वापस बुलाने पर मजबूर कर देंगे। लार्ड रिपन ने स्वयं को इतना बुद्धिमान और उदारवादी वाइसराय और भारतीयों का इतना अच्छा मित्र सिद्ध किया था कि उनकी वापसी हमारे लिए बड़ी विपदा होती। बदरुद्दीन ने कलकत्ता जाकर लार्ड रिपन से बहस करने का निर्णय किया। बदरुद्दीन समझ गये कि उन्हें अपने मामले को आगे बढ़ाने या

वाइसराय से हाथ धोने के बीच किसी एक को चुनना होगा और क्योंकि वो जीत नहीं सकते, उन्हें समझौता स्वीकार करना होगा। "मैंने संपूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया और आगे के लिए आंदोलन को पूरी तरह समाप्त करने के आशय का तार दिया।" परिणामस्वरूप इल्बर्ट अधिनियम जिस रूप में अंत में पारित हुआ उसका स्वरूप बहुत हल्का था। सभी सेशन जजों, जिला और प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेटों को ब्रिटेन के यूरोपीय नागरिकों पर सीमित न्यायाधिकार दिया गया। व्यावहारिक तौर पर इससे विशेष फर्क नहीं पड़ना था। परंतु यह एक छोटी-सी शुरुआत थी। किसी भी भारतीय जज द्वारा यूरोपीय के मुकदमे की सुनवाई न कर पाना या उसे दंड न दे सकने की बातें अब पुरानी हो गयीं। वास्तविक समानता आने में अभी समय था।

इल्बर्ट बिल पर आंदोलन और अधिनियम के रूप में उसका पारित होना अनेक कारणों से उल्लेखनीय था। यह पहला अवसर था जब भारत में जनमत का 'सृजन' किया गया और उसे संगठित मार्गों की ओर व्यवस्थित किया गया। आंदोलन सड़क-छाप प्रदर्शन नहीं था। यह लोकमत की अत्यंत गरिमापूर्ण, लेकिन ठोस अभिव्यक्ति थी, जिसका नेतृत्व देश के तीन अत्यधिक बुद्धिमान व्यक्तियों ने किया। यह भी संयोग था कि तीनों नेता अलग अलग समुदायों में से थे—बदरुद्दीन तैयबजी मुसलमान थे, तैलंग हिंदू थे और फिरोजशाह मेहता पारसी। तीनों का एक घनिष्ठ गुट था जिसके आदर्श और उद्देश्य इतने समान थे कि कई वर्षों तक उन्हें देश के प्रमुख विचारों का नेता माना जाता था। प्रत्येक ने अपने समुदाय से सम्मान पाया और वे अपनी राय उन पर थोप सकने की क्षमता रखते थे तथा आपस में मिलकर सर्वोत्तम भारतीय विचारों के प्रतिनिधि होने का वास्तविक दावा कर सकते थे।

अपनी वकालत शुरू करने के कुछ ही वर्षों में बदरुद्दीन ने पाया कि उनके पास इतना काम था कि वह संभाल नहीं सकते थे। अब उनका अधिकतर कार्य 'देसी' राजाओं और ब्रिटिश सरकार के बीच जटिल संबंधों तथा भारी धनराशि से संपन्न व्यावसायिक संस्थाओं से ताल्लुक रखता था। इसका मलतब था कि अक्सर उन्हें, विशेषकर रियासतों की यात्रा पर, जाना पड़ता जहां पहुंचना काई आसान काम नहीं था। साथ ही वह सार्वजनिक और राजनीति कार्यों में गहराई और कर्मठता से उलझ गये जिसका उन पर भारी बोझ पड़ गया। उनके स्वास्थ्य और दृष्टि को इससे दो बार नुकसान पहुंचा और उन्हें काम बंद करने और लंबे अवकाश पर जाने की सलाह दी गई। स्वास्थ्य लाभ के बाद भी यह स्पष्ट था कि यदि यह माना जाये कि उन्हें उचित चालू हालत में बने रहना है तो उन्हें अपनी रफ्तार को बदलना होगा।

उस समय, यानी 1895 के करीब, सरकार ने उन्हें जज बन जाने को कहा। यह बहुत बड़ा सम्मान था क्योंकि यद्यपि रानाडे और तेलंग पहले ही जज बन चुके थे, परंतु वे अपील

पक्ष के जज थे और उस पीठ के सदस्य थे जिसमें अन्य अंग्रेज जज भी शामिल थे। बदरुद्दीन की नियुक्ति 'मूल पक्ष' में थी जो अधिक महत्वपूर्ण मुकदमों पर विचार करती थी और उन्हें मात्र अनेक जजों में से एक नहीं बल्कि एकमात्र जज बनाया गया था। इसके साथ कुछ नुकसान भी जुड़े थे जिनके विषय में उन्हें ध्यान से विचार करना था।

उदाहरण के लिए, एक बार उच्च न्यायालय का जज बनने के बाद वह कई तरह के राजनीतिक कार्यकलापों में भाग नहीं ले सकते थे। अन्य शब्दों में, वह पहले की तरह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में सक्रिय भूमिका नहीं निभा सकते थे। कदाचित उन परिस्थितियों में यह तर्क जज का पद स्वीकार करने के फायदों के सामने फीके दिखते। परंतु अब तक उनकी दृष्टि इतनी कमजोर हो गई थी कि कानूनी काम जारी रखना अनिश्चित हो गया था। जज बनने पर उनकी दृष्टि पर अधिक बोझ नहीं पड़ता और इसी कारण से उन्होंने पद स्वीकार करने का निर्णय लिया।

जज का पद स्वीकार करने के लिए उनकी आलोचना भी की गई। उनके आलोचको और यहां तक कि उनके मित्रों ने महसूस किया कि वह जज की अपेक्षा साधारण नागरिक के रूप में अधिक महत्वपूर्ण कार्य कर सकते थे। एक बार जज बनने के बाद वह प्रत्यक्ष रूप से सरकार का खुल्लमखुल्ला विरोध नहीं कर सकते थे और लोगों को लगा कि उनकी वाणी इतनी प्रभावकारी थी, उनकी राय इतनी तर्कसंगत और सही थी कि उनकी वास्तविक भूमिका लोकमत के नेता की थी व ब्रिटिश सरकार को भारतीय दृष्टिकोण के प्रस्तुतकर्ता के तौर पर थी। उन्हीं दिनों उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में अपना पद संभाला था। और इसमें कोई संदेह नहीं था कि समय और परिस्थितियों के अनुसार वह एक आदर्श नेता थे।

ऐसा ही अनिश्चितताएं बदरुद्दीन के दिमाग में भी थीं, यह बात कागज के उस टुकड़े से सिद्ध होती है जो मृत्यु के बाद उनकी चीजों में पाया गया। उस पर जज का पद स्वीकार करने के लाभ और हानियां स्पष्ट रूप से अंकित हैं। एक तरफ उन सभी कार्यकलापों की सूची है, मुख्यतया राजनीतिक, जो उनके लिए बंद हो जायेंगे। दूसरी तरफ फायदों का विवरण है - जिनमें मुख्य है कि वह अपनी दृष्टि को बचा लेंगे।

उच्च न्यायालय के जज के तौर पर उनकी नियुक्ति को बहुत बड़ा सम्मान माना गया और न केवल देश के भीतर बल्कि विदेशों में प्रवासी भारतीयों द्वारा उसका जोरदार स्वागत किया गया। यह बात निम्नांकित संबोधन से सिद्ध होती है।

लंदन भारतीय सोसाइटी

सेवा में, सम्मानित न्यायाधीश श्री बदरुद्दीन तैयबजी, बंबई।

महोदय,

1. हम, लंदन भारतीय सोसाइटी के अध्यक्ष और सदस्य, जिनमें लंदन निवासी भारतीय

सज्जन शमिल हैं, प्रस्तुत संबोधन के साथ आपके सदृश होने के प्रार्थी हैं जिसमें महामहिम महारानी सम्राज्ञी द्वारा बंबई उच्च न्यायालय के जज के रूप में आपकी नियुक्ति की सूचना पर हमारे महासंतोष की अभिव्यक्ति है।

2. यह अनुमति हमारे लिए विशेष संतोष की बात है कि महामहिम ने न केवल एक भारतीय सज्जन को, बल्कि आप जैसे व्यक्ति को चुना जो अपनी विद्वत्ता और बार में अपने अनुभव के कारण ही नहीं बल्कि इन सबसे अधिक भारत में महामहिम की प्रजा के सभी वर्गों के प्रति अपनी उदारता और संवेदनशीलता के कारण सुयोग्य है और जिसने देश में प्रशासनिक सुधार में विशेष योगदान दिया।
3. यह लिपिबद्ध करते हमें विशेष संतोष है कि भारत की प्रगति को प्रभावित करने वाले सभी विषयों पर आपके विचारों के कारण आपकी नियुक्ति का भारत में महामहिम की मुसलमान प्रजा ने ही नहीं बल्कि उन सभी वर्ग के व्यक्तियों ने भी हर्ष के साथ स्वागत किया है जो उस समुदाय से संबंधित नहीं हैं जिसके आप इतने विशिष्ट प्रतिनिधि हैं।
4. हम इस आशा की अभिव्यक्ति के साथ यह पत्र समाप्त करने के प्रार्थी हैं कि आप अपने पद के उत्तरदायित्वपूर्ण और दुर्भर कर्तव्यों को दीर्घकाल तक अपने लिए ख्याति और बंबई प्रेसिडेंसी में महामहिम की प्रजा की संतुष्टि के साथ निभायें।

ह. दादाभाई नौरोजी
जाफर रहीमतुल्ला कादरभाई

उनकी कचहरी में वकालत करने वाले बहुत से युवा वकीलों के मन में 'महान जज' के रूप में विख्यात बदरुद्दीन की स्मृति लंबी अवधि तक बनी रही। सुनहरे और सफेद रंग की पगड़ी, लंबी बांहों वाले चोगे, अंग्रेजी बोलने की सही शैली और हाजिर-जवाबी की वजह से वह किसी को भी प्रभावित करने में समर्थ थे। माननीय श्री एम.डी. जयकर ने, जो उस समय युवा बैरिस्टर थे, बाद में लिखा :

उन्होंने अंग्रेज और भारतीय वकीलों के बीच कोई भेद नहीं किया जिस वजह से अपने समय में मैं जिन जजों से मिला उनकी तुलना में वह स्पष्ट रूप से अलग दिखते थे—जो शिष्ट थे उनके साथ वह भी उतना ही शिष्ट थे। संकोची, संघर्षरत नये वकील के प्रति उनका व्यवहार सहायता की पराकाष्ठा थी। अक्खड़ और लापरवाह को वह बुरी तरह फटकार देते।

श्री जयकर एक वरिष्ठ अंग्रेज बैरिस्टर की कहानी सुनाते हैं, जो भारतीय नामों का गलत उच्चारण करता था और जो 'बाई' और 'भाई' के बीच गड़बड़ करता था। पीठासीन बदरुद्दीन ने बैरिस्टर से कहा, "श्रीमान स्मिथ, आप इस देश में कई वर्षों से आये हुए हैं।

इस दौरान आपने भारतीयों के झगड़ों से खासा धन कमाया है—निश्चित रूप से उनके नामों पर अधिक ध्यान देना आपके लिए असंभव नहीं है। अब तक आपको यह मालूम हो जाना चाहिए कि 'भाई' पुरुष का सूचक है और 'बाई' महिला का। यदि अनेक वर्षो तक वकालत करने के बाद मैं एक अंग्रेज अदालत में किसी पक्ष को श्री मेरी डिक्सन या श्री मॉड टेंपलटन कहकर पुकारूं तो क्या होगा? एक अंग्रेज जज इसे किस रूप में लेगा? क्या उसे आघात नहीं पहुंचेगा? मेरी भी ऐसी ही भावनाएं हैं और मैं चाहूंगा कि वकील महोदय इनका सम्मान करें।" उस दिन के बाद यह विचित्र बात देखने में आई कि जब भी बदरुद्दीन की अदालत में मुकदमा होता, यूरोपीय वकील पहले पुस्तकालय पहुंचते और कनिष्ठ भारतीय वकीलों से भारतीय नामों का उच्चारण सीखते।

जिस तरह बदरुद्दीन ने यह कभी नहीं माना कि केवल किताबी पढ़ाई से मनुष्य शिक्षित हो सकता है, उसी तरह उनका यह भी विश्वास था कि मात्र कानून की जानकारी, चाहे वह कितनी ही गहरी क्यों न हों, किसी को अच्छा वकील या जज नहीं बना सकती। दोनों में से कोई भी 'विश्व की पक्की जानकारी के बिना' सफल नहीं हो सकता, जबकि स्वाभाविक है कि एक जज को इसके साथ गवाही की छानबीन और समझ की क्षमता को भी मिश्रित करना पड़ता है। वास्तव में बदरुद्दीन सामान्य ज्ञान को अत्यधिक महत्व देते और मात्र कानूनबाजी की परवाह नहीं करते थे। उनके अनुसार एक आदर्श जज वह था, "जो कानून और न्याय के सुव्यवस्थित सिद्धांतों से अपने को सुसज्जित करने और अनुभव के माध्यम से मानवीय विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद अपने समुचित विवेक को मनुष्य और मनुष्य के बीच विवाद सुलझाने में लगाये।"

जज के रूप में उनकी ख्याति का सर्वप्रथम आधार उनकी संपूर्ण निष्पक्षता थी। उनके समक्ष उपस्थित व्यक्ति के किसी विशेष रंग, पंथ, जाति, धर्म, संपत्ति और रुतबे के होने या न होने का उन पर कोई असर नहीं होता था। निष्पक्षता का यह सिद्धांत उस समय भी कायम रहा जब स्वयं लार्ड कर्जन बिना किसी पूर्व सूचना के बदरुद्दीन के न्याय कक्ष में गये। वाइसराय पर उतना ही ध्यान दिया गया जितना उस भीड़ पर जो उनके मुकदमों की कार्रवाई सुनने हमेशा जमा होती थी, न कम न ज्यादा।

भारत में यह विशेष रूप से आवश्यक था कि जज 'दुनियादार' व्यक्ति हो, जिसका अर्थ है कि उसके समक्ष उपस्थित होने वाले विभिन्न लोगों की ढेर सारी भिन्न भिन्न परंपराओं, रिवाजों, जीवन-शैलियों, पूर्वानुमानों, पूर्वाग्रहों और वर्जित कर्मों से वह परिचित हो। इस प्रकार के ज्ञान के अभाव में वह उनके सामने हाजिर लोगों के व्यवहार की सही व्याख्या करने और समझने में असमर्थ होगा। यदि सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की जानकारी हो तो कानूनी तौर पर गलत काम की आसानी से अनदेखी की जा सकती है अथवा विशेष परंपराओं के अंतर्गत उसे स्वीकार्य माना जा सकता है। उदाहरणतया यदि एक रूढ़िवादी मुसलमान

की पत्नी को कोई छुए तो वह उस पर सहज ही हमला कर सकता है जबकि एक यूरोपीय के लिए महिलाओं को छूना सामान्य बात है, चाहे वह हाथ मिलाने के लिए हो या नाचते हुए। इसी प्रकार, जहां एक ब्राह्मण मांस परोसे जाने को अपमानजनक मानेगा वहीं एक यूरोपीय या मुस्लिम भोज के निमंत्रण पर मांस शामिल न किये जाने को अपमान समझेगा। यह सकल और स्पष्ट उदाहरण हैं, परंतु लोगों के बीच असंख्य और सूक्ष्म कारणों से अनेक गलतफहमियां पैदा हो सकती हैं और कानून कई तरह से परंपरागत रास्तों में उलझ सकता है। बदरुद्दीन कई भारतीय भाषाओं से परिचित थे और अधिकांश ऐसी संस्कृतियों की जानकारी रखते थे जिसके प्रतिनिधि उनकी अदालत में पेश हो सकते थे। और वह सदैव जानते थे कि कानून की सही व्याख्या कर सकना ही नहीं बल्कि उन सामाजिक मजबूरियों को समझना भी आवश्यक है जिनके कारण कोई व्यक्ति एक विशेष तरह का बरताव करता है। बदरुद्दीन मानते थे परंतु इस समझ में अन्य लोग उनके साझेदार नहीं थे। शायद ही कोई यह स्पष्ट अनुभव करता था कि जो किसी व्यक्ति की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि नहीं जानता वह उसके साथ वास्तविक न्याय कर सकने में सदैव समर्थ नहीं होगा।

दूसरी विशेषता थी 'सत्य तक पहुंचने' का उनका संकल्प और क्षमता जिसके कारण अत्यंत जटिल मामलों में भी उनके निर्णय हमेशा न्यायोचित और सही माने जाते थे।

बदरुद्दीन के लिए कानून की बारीकियों का कोई महत्व नहीं था और 'कानूनी वाक्-चातुर्य' का अस्तित्व ही नहीं था। उनकी दिलचस्पी अक्षरशः मामले के तथ्यों में, वास्तव में सही तौर पर क्या हुआ, यह जानने में थी। उनमें असाधारण प्रतिभा थी, शानदार सामान्य ज्ञान की प्रतिभा। उनकी मुख्य दिलचस्पी कानून का पालन करने से भी अधिक इस बात में थी कि किसी भी तरह का अन्याय नहीं होना चाहिए और निर्दोष को सजा नहीं मिलनी चाहिए। साधारण मामलों में इसका अर्थ किसी न किसी तरह सत्य तक पहुंचने के प्रश्न से जुड़ा हुआ था। सार्वजनिक निगमों अथवा सरकार और रियासतों से संबंधित अधिक जटिल मामलों में इसका मतलब था कानूनों के जंगल में से सही रास्ता खोज निकालना, उसके पीछे वास्तविक भावना को समझना और ऐसे समाधान पर पहुंचना जो सभी पक्षों के लिए न्यायपूर्ण हो। वह 'निर्णय में दलीलों के इस्तेमाल में अपनी तेजी, अत्यंत जटिल गवाही के सुबुद्ध विश्लेषण और सरलता के साथ अपने समक्ष मामलों में उठने वाले तथ्यों और कानूनी मुद्दों के आधार पर निष्कर्ष तक पहुंचने के लिए विख्यात थे।'

यदि किसी में 'झूठ पकड़ने की नजर और सच को पकड़ने वाले दांत थे' तो वह थे न्यायाधीश बदरुद्दीन। उन्हें इससे कोई सरोकार नहीं था कि सत्य अंग्रेज के पक्ष में है या भारतीय के, कमजोर के या बलवान के, अमीर के या गरीब के। उनके लिए इस बात का भी कोई महत्व नहीं था कि सत्य को पेश करने वाला वकील कमजोर था और अपना पक्ष सही तरह प्रस्तुत नहीं कर पाया। बदरुद्दीन को तथ्य को परखने में और नियमों को समझने

में वकीलों पर निर्भर होने की आवश्यकता नहीं थी। वह अपने विषयों पर स्वयं विचार करने में अत्यंत सक्षम थे। उनमें एक तरह की दोहरी दृष्टि भी थी। वह समझते थे कि उनका निर्णय सहज बुद्धि के लिए भी संतोषजनक होना चाहिए लेकिन साथ ही उसमें कानून के गूढ़ सिद्धांतों को बल देने और उनकी मर्यादा बनाये रखने का भी गुण होना चाहिए था। न्याय कक्ष में 'सत्य तक पहुंचने में' जिस सूक्ष्म विवेक की आपको आवश्यकता होती है वह बदरुद्दीन की विशिष्ट योग्यता थी। एक बार जब एक अंग्रेज वकील भारतीय गवाहों की विश्वसनीयता की निंदा कर रहा था तो उन्होंने उसे तीखा जवाब दिया :

> श्रीमान इंवेरेरिटी, न्यायालय में बहुत अधिक झूठी गवाहियां सुनने में आती हैं, परंतु इस पर इस देश का एकाधिकार नहीं है। टिचबोर्न और उनके सैकड़ों झूठे गवाह भारतीय नहीं थे। मेरे विचार में उन तथ्यों के मामले में, जिनसे इंकार करना उनके लिए आवश्यक नहीं है, भारतीय गवाह कम विवेक से झूठ बोलते हैं जबकि यूरोपीय गवाह अधिक विवेकशील हैं और केवल उस बात से इंकार कर सकते हैं जो उनके लिए आवश्यक है। इस कारण यह मालूम करना अधिक कठिन है कि उन्होंने कहां झूठ बोला।

यहां अधिक महत्वपूर्ण मामलों में से किसी का भी वर्णन करना कठिन है क्योंकि कानूनी तौर पर वह अधिक जटिल थे। परंतु एक अपेक्षाकृत सरल मामला था जिसने खूब भावात्मक उत्तेजना पैदा की और जो 'तिलक मुकदमे' के नाम से जाना गया।

लोकमान्य तिलक पर राजद्रोह और अंग्रेजों के खिलाफ हिंसा भड़काने का आरोप लगाया गया। यह इतना भयानक आरोप था और उनके खिलाफ पारिस्थितिक साक्ष्य इतना मजबूत था कि कोई भी जज उन्हें जमानत देने को तैयार नहीं था। अंग्रेजों के साथ बदरुद्दीन का अपना सामना हमेशा खुला और साफ रहा और वह किसी भी तरह की हिंसा अथवा विद्रोही कार्रवाई के पक्षधर कतई नहीं थे। फिर भी वह इतने न्यायप्रिय और साहसी थे कि श्री तिलक को जमानत पर रिहा कर सकें। परंतु शायद इस कहानी को अधिक विस्तार से सुनाया जाना चाहिए।

1896 में बंबई प्रेसिडेंसी में, जिस नाम से बंबई के इर्द-गिर्द का विशाल क्षेत्र जाना जाता था, भीषण अकाल पड़ा और इसके बाद प्लेग की महामारी फैली। अकाल और प्लेग से निपटने के सरकार के तरीके अकुशल, फूहड़ और कल्पना-शक्तिहीन थे और भारतीय समाचारपत्र तीव्र आलोचना से भरे हुए थे। वास्तव में सरकार द्वारा स्थिति को संभालने के ढंग के विरोध में खूब आंदोलन हो रहा था और लोकमान्य तिलक, जो उस समय 'केसरी' के संपादक थे, आंदोलन के नेताओं में से एक थे। उस समय उन्होंने शिवाजी द्वारा अफजल खान की हत्या की सफाई में एक लेख लिखा और शीघ्र बाद में संयोग से पुणे के अंग्रेज कलेक्टर, जो प्लेग नियंत्रण कार्य के प्रमुख थे, की हत्या कर दी गई। तिलक के लेख को, जिसे राजनीतिक हत्या भड़काने वाला माना जा सकता था, इसके लिए उत्तरदायी माना

गया। तिलक को गिरफ्तार कर लिया गया और उन पर राजद्रोह का आरोप लगाया गया।

जब तक गिरफ्तार व्यक्ति ज्ञात अपराधी न हो, उसे आमतौर पर मुकदमा शुरू होने तक जमानत पर रिहा कर दिया जाता है। इसका अर्थ एक सप्ताह हो सकता है अथवा एक महीना या कई महीने; पुलिस दरअसल उसके खिलाफ मामला तैयार करने में जितनी भी देर लगायें उतने समय तक। सब बातों के बावजूद हो सकता है कि वह व्यक्ति अंत में दोषी न पाया जाये। अतः अदालत उसे मुकदमे की पेशी पर हाजिर होने की गारंटी के तौर पर एक निश्चित रकम जमा कराने को कहती है। धनराशि जमा करने को कहने का एक-मात्र उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि अभियुक्त मुकदमे से पहले भाग न जाये।

तिलक की गिरफ्तारी के दिनों के उत्तेजनापूर्ण वातावरण में मजिस्ट्रेट ने पचास हजार रुपए की जमानत पर भी, जो कि उन दिनों एक भारी रकम थी, उन्हें रिहा करने से इंकार कर दिया। तिलक के सॉलिसिटर ने अनेक जजों के समक्ष, जिनमें भारतीय और अंग्रेज दोनों शामिल थे तीन बार जमानत के आवेदन दिये। तिलक के विरुद्ध आरोप इतना गंभीर था कि जज इस ख्याल से घबरा जाते थे कि यदि वो तिलक की जमानत मंजूर करते है तो सरकार के प्रति निष्ठाहीन माने जायेंगे। परंतु तिलक के सॉलिसिटर ने हार नहीं मानी। जब उसने बदरुद्दीन को अदालत में पाया तो मौका ताड़ कर अपने मुवक्किल की जमानत के लिए चौथा प्रयास किया। बदरुद्दीन ने दोनों पक्षों की दलीलों को ध्यानपूर्वक सुना और कहा कि आमतौर पर हत्या और बलात्कार के मामलों में ही जमानत नामंजूर की जाती है और यद्यपि श्री तिलक के खिलाफ आरोप अत्यंत गंभीर थे, फिर भी हत्या से उनकी तुलना नहीं की जा सकती थी। उन्होंने सरकार की ओर से जमानत की पैरवी का विरोध कर रहे महाधिवक्ता से बारीकी से जिरह की। बदरुद्दीन ने उनसे कहा :

> "स्पष्ट है कि आप में इस मामले को लेकर प्रतिशोध की कोई भावना नहीं है। आपका यह कहना है कि अभियुक्त को मुकदमे की पेशी पर उपलब्ध होना चाहिए—आप केवल उसकी उपस्थिति को पक्का करना चाहते हैं?" उन्होंने आगे कहा, "मुझे इस प्रश्न की जांच करनी है कि क्या श्री तिलक के अगले फौजदारी सत्र में मामले की सुनवाई पर उपस्थित न होने की बात पर यकीन करने का कोई आधार है, और क्या उनके मुकदमे से दूर रहने का कोई खतरा है—मैं यह विश्वास नहीं कर सकता कि श्री तिलक की कोटि के भद्र पुरुष पेशी पर उपस्थित नहीं होंगे। दूसरी ओर, मुझे साफ लगता है कि उनकी जमानत नामंजूर करने से न्याय की पराजय होगी क्योंकि यह बिल्कुल संभव है कि एक महीने तक कैद में रखने के बाद अंत में उन्हें दोषी न पाया जाये। अतः मेरा विचार है कि मैं अभियुक्त की जमानत स्वीकार करके ही अपनी निर्णय-शक्ति का सर्वोत्तम प्रयोग कर सकता हूं।"

इन शब्दों को सुनकर खचाखच भरी अदालत में उपस्थित भीड़ उत्तेजना में हर्षध्वनि

करने लगी तो उसे बदरुद्दीन ने अदालत में अशोभनीय शोर मचाने के लिए सख्ती से फटकार लगाई। उनके निर्णय से जबरदस्त सनसनी मचने का कारण यह था कि यद्यपि वह स्पष्टतया उचित था, फिर भी पूरी तरह अप्रत्याशित था। तीन अंन्य जज तिलक को जमानत देने से पहले ही इंकार कर चुके थे और यह बात खुल्लमखुला कही गई कि उन दिनों के माहौल में बदरुद्दीन को छोड़ किसी अन्य जज में तिलक को रिहा करने का साहस और आत्मविश्वास नहीं रहा होगा।

1902 में बदरुद्दीन को बंबई का कार्यवाहक मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया। ऐसा सम्मान इससे पूर्व किसी भी भारतीय को प्राप्त नहीं हुआ था। परंतु उनके जीवन के एक प्रमुख कारण खराब स्वास्थ्य ने अब भी उनका पीछा नहीं छोड़ा और 1906 में अपनी पत्नी की मृत्यु के कुछ समय बाद उन्होंने छुट्टी ली और एक बार फिर लंबे अवकाश पर इंग्लैंड चले गये। उनके यहां रहते मुख्य न्यायाधीश का पद स्थायी कर दिया गया और उन्हें तुरंत भारत लौटने को कहा गया। परंतु स्वदेश के लिए वापस रवाना होने से कुछ दिन पहले अचानक लंदन प्रवास के दौरान ऊपरी तौर पर स्वस्थ दिखने के बावजूद उनकी मृत्यु हो गई। उनकी आयु बासठ वर्ष की थी।

3

राजनीति

जिस समय बदरुद्दीन काफी युवा थे, भारत के लोगों की स्वयं उनके ही जीवन को प्रभावित करने वाले मामलों से जुड़े किसी भी निर्णय में कोई भूमिका नहीं थी। लगभग सभी प्रशासनिक पदों पर अंग्रेज विराजमान थे और भारत के लिए बनने वाले कानूनों पर न केवल अंग्रेजों के बीच ही विवाद होता था बल्कि अक्सर यह विवाद भारत की धरती पर भी नहीं होता था। उन पर लंदन में संसद के सदनों में ऐसे लोगों के बीच बहस होती थी जिनको न तो भारत के बारे में कोई ज्ञान था और न ही उससे संबंधित विषयों में कोई रुचि। एक प्रकार से सार्वजनिक जीवन में बदरुद्दीन की भूमिका को देश में निर्णय लेने से जुड़े कुछ पदों के पूर्ण या आंशिक भारतीयकरण के सतत प्रयास के रूप में देखा जा सकता है। चाहे वो सिविल सर्विस परीक्षा के लिए आयु सीमा बढ़ाने का प्रश्न हो ताकि अधिक संख्या में भारतीयों की भर्ती हो सके, या परामर्श समितियों में भारतीय सदस्यों के निर्वाचन का प्रश्न, जिस सिद्धांत पर उन्होंने सदैव अमल किया वह था कि जिम्मेदार भारतीयों को उनके देश के विषयों में और अधिक भूमिका निभाने की अनुमति दी जानी चाहिए।

यह अत्यंत उचित था कि बदरुद्दीन ने अपने सार्वजनिक जीवन का आरंभ अपनी गृह-भूमि से यानी बंबई नगर के मामलों से किया। उन दिनों संपूर्ण बंबई नगर का प्रशासन एक ही आयुक्त के हाथों में था। वह किसी समिति को नहीं बल्कि केवल एक लेखा-नियंत्रक को जवाबदेह था। इसका यह अर्थ था कि बंबई नगर का संचालन एक अकेले व्यक्ति की मर्जी और सनक के आधार पर किया जाता था। पहले आयुक्त आर्थर क्रॉफर्ड नामक व्यक्ति थे जिन पर बंबई के बहुत बड़े बाजार का नाम रखा गया। वह कर्मठ और उत्साही थे—इतने कर्मठ कि उन्होंने आवश्यकता से कहीं अधिक धनराशि खर्च की और न तो लेखा-नियंत्रक और न ही कोई और, उन पर किसी प्रकार की रोक लगा पाया। सदैव उचित सीमा से कहीं अधिक व्यय करने के कारण, स्वाभाविक है कि उन्हें नये कर लगाने पड़े और कुछ ही समय में बंबई के लोग भारी कराधान भुगतने के बावजूद धन के व्यय में कोई अधिकार न होने के अन्याय को महसूस करने लगे।

1871 में श्री क्राफर्ड के विरुद्ध लोगों की इतनी सख्त भावनाएं थीं कि बंबई के वरिष्ठ नागरिकों ने मिलकर उनके फिजूलखर्ची एकतंत्र का विरोध किया। विरोध करने के बाद अगला प्रश्न था—किस प्रकार एक ऐसी नगरपालिका प्रशासन व्यवस्था विकसित की जाये जो एक ही आदमी के व्यक्तित्व और विचारों पर निर्भर न हो? यह पहला अवसर था कि बदरुद्दीन, जो उस समय केवल 26 वर्ष के थे, सार्वजनिक विषयों में भाग ले रहे थे और अपने भाषण में उन्होंने बंबई नगर के मामलों की देखभाल के लिए लोगों की एक निर्वाचित समिति होने के प्रस्ताव का समर्थन किया। उन्होंने बताया कि शहर के मलाबार हिल, वाल्केश्वर और ब्रीच कैंडी जैसे अमीर लोगों के इलाकों का अच्छा रख-रखाव किया जाता था जबकि निर्धन क्षेत्र उपेक्षित और अस्वास्थ्यप्रद थे और बार-बार चेचक और प्लेग जैसी महामारियों का शिकार होते थे। अधिक निर्धन क्षेत्रों पर पैसे न खर्च करना अन्यायपूर्ण था और इसका निदान तभी हो सकता था जब प्रत्येक इलाके का अपना निर्वाचित प्रतिनिधि हो। जब तक एक व्यक्ति अपने निर्वाचक-समूह के प्रति उत्तरदायी और उनके वोटों पर निर्भर नहीं होता तब तक उस पर उनके लिए भरसक कोशिश करने का भरोसा नहीं किया जा सकता था।

जीवनपर्यंत बदरुद्दीन की निर्वाचन के सिद्धांत पर महान आस्था रही और चयन व नामजदगी के खिलाफ निर्वाचन के पक्ष में यह उनका पहला सार्वजनिक संबोधन था। ऐसा कहा गया है कि यदि लोकतांत्रिक शासन प्रणाली अत्यंत असंतोषजनक है, तो अन्य प्रणालियां उससे भी बदतर हैं। यदि भारत की सभी समस्याओं के लिए रामबाण के रूप में लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में बदरुद्दीन की आस्था में कुछ भोलापन था तो यह स्मरणीय है कि उन दिनों 'एक व्यक्ति, एक वोट' का प्रश्न ही नहीं उठता था। केवल संपत्ति-धारकों और निश्चित शैक्षिक योग्यता वाले लोगों को ही वोट देने का अधिकार था। भारत के लिए सार्वभौम मताधिकार की कल्पना तक नहीं की गई थी। काफी तरह से तमाम मतदाताओं का शिक्षित और दुनियादारी में अनुभवी होना खूब फायदेमंद था। परंतु मताधिकार चाहे चयनात्मक हो या सार्वभौम, फिर भी 'सभी तरह की ढेरों शासन प्रणालियों में सबसे कम असंतोषजनक है।' अतः इस समय हमारे देश में यदि लोकतंत्र आदर्श से निम्न स्तर पर काम कर रहा है तो प्रणाली को बदलना आवश्यक नहीं है बल्कि हम लोगों को इतना परिपक्व होना होगा कि प्रणाली हमारे अनुकूल बने।

यह विशिष्ट सभा एक और कारण से भी महत्वपूर्ण थी। यह पहला अवसर था जब बदरुद्दीन, फिरोजशाह मेहता और काशीनाथ त्र्यम्बक तेलंग एक साथ सार्वजनिक मामलों पर बहस में भाग ले रहे थे। इसके बाद कई वर्षों तक, वास्तव में बदरुद्दीन के जज बनने तक, इन तीनों मित्रों की जो समान विचारो और तरीकों के साथ एक-दूसरे का समर्थन और सहायता करते हुए जनहित के लिए काम करते थे उन्हें 'वो त्रिमूर्ति' का नाम दिया

गया। यह सौभाग्यपूर्ण संयोग था कि अलग-अलग समुदायों से संबंधित इन तीन व्यक्तियों को एक-दूसरे पर इतना विश्वास था कि किसी सार्वजनिक प्रश्न पर कोई भी आश्वस्त हो सकता था। और स्वाभाविक है कि प्रत्येक के अपने समुदाय का नेता माना जाने के कारण, यदि कोई भी किसी बात को उठाता तो तीनों समुदाय लगभग सदैव ही संयुक्त मोर्चा प्रस्तुत कर सकते थे। यह सुखद स्थिति उन दिनों की अपेक्षा बाद के समय के संदर्भ में ध्यान देने पर शायद अधिक उल्लेखनीय लगती है क्योंकि उन दिनों प्रत्येक समुदाय अपने आप में सिमट कर तो रहता था परंतु आपस में उनमें कोई प्रतिरोध नहीं था। वह दौर बाद में आया।

स्वयं बदरुद्दीन को अपने गैर-मुस्लिम मित्रों से प्रगाढ़ स्नेह था और उनके व अन्य साथी भारतीयों के बीच धर्म को बाधा न बनने देने के विषय में वह कृत-संकल्प थे। उन्होंने आजीवन इस पर जोर दिया। एक बार ब्रिटिश लोगों को एक रोमन कैथोलिक वाइसराय की नियुक्ति का विरोध करने पर फटकारते हुए उन्होंने भारतवासियों के विषय में कहा, "हम जातियों, पंथों और राष्ट्रीयताओं की विविधता के सुखद रूप से आदी हैं और मेल-मिलाप के साथ सामान्य कल्याण के लिए कार्य करते हैं।" वास्तव में 'जातियों और पंथों की विविधता'–'साथ कार्य करने' की अवधारणा बदरुद्दीन का इतना महत्वपूर्ण आदर्श था कि उन्होंने समुदायों के बीच मैत्री को बढ़ावा देने के हर तरह के अवसर को खोज निकाला। उनके घरों में आयोजित भारी सामाजिक सभाएं उस समय के संदर्भ में इस दृष्टि से असाधारण थीं कि उनमें प्रत्येक समुदाय के सदस्य शामिल होते थे।

परंतु हमें बंबई नगर के मामलों पर वापस लौटना होगा। हां, तो 1871 की नागरिकों की बैठक के बाद नगर परिषद के गठन का निर्णय लिया गया जिसमें आधे सदस्य करदाताओं द्वारा चुने जाने थे और बाकी नामजद किये जाने थे। दो वर्ष बाद यह चुनाव संपन्न हुए और अन्य गणमान्य नागरिकों के अलावा बदरुद्दीन, फिरोजशाह मेहता और तैलंग - तीनों ही परिषद के लिए चुने गये। मुड़कर देखने पर यह सोचना असाधारण लगता है कि इतने व्यस्त और विख्यात व्यक्तियों ने अपने नगर के रख-रखाव की साधारण व सांसारिक समस्याओं के लिए अपना समय दिया। ऐसा सही और उचित ही है क्योंकि अपने गृहनगर का स्वरूप हरेक के हृदय के नजदीक होना चाहिए; लेकिन फिर भी हमारी बुद्धि इतनी कुंठित हो गयी है कि अब हमें यह बात आश्चर्यजनक लगती है।

अगले दस वर्षों तक बदरुद्दीन ने नगर परिषद के जरिये, जो बंबई नगर निगम की पूर्वगामी थी, अपने शहर की सेवा की। जैसा मैंने अभी कहा था, नगर परिषद के अन्य सदस्यों की सूची पढ़ने में उच्च पद के लोगों की फेहरिस्त लगती थी क्योंकि शहर की देखभाल का काम उसके सर्वाधिक प्रतिभाशाली और बुद्धिमान नागरिकों में से कुछ के हाथों में था। कुशल प्रबंध की आधारशिला इसी समय रखी गई। और अगले 50 वर्षों तक बंबई एक

असाधारण रूप से सुंदर और सुखद जगह बनी रही। समुद्र से घिरी, ऐसी गरम और गीली जलवायु की धनी जो हरियाली को खूब बढ़ावा देती, खूबसूरत वृक्षों की कतारों से सजी सड़कों वाली बंबई, सही अर्थों में ऐसी जगह थी जिस पर गर्व किया जा सके। द्वितीय विश्वयुद्ध के तुरंत बाद से ही बंबई का पतन आरंभ हुआ।

नगर की सेवा के बाद अगला कदम था राज्य की या बंबई प्रेसिडेंसी, जैसा उन दिनों उसका नाम था, की सेवा करना। दस वर्ष तक नगर परिषद का निर्वाचित सदस्य रहने के बाद बदरुद्दीन को बंबई विधान परिषद में शामिल होने को कहा गया जो उन दिनों बंबई प्रेसिडेंसी का कानून बनाने वाला अंग था। नगर परिषद का भी सदस्य बने रहने की प्रबल इच्छा के बावजूद बदरुद्दीन ने पाया कि वह दोनों कार्य नहीं कर सकते थे। वह अपने मुवक्किलों के कानूनी मामलों की उपेक्षा किये बिना दोनों संस्थाओं की बैठकों में भाग नहीं ले सकते थे। दरअसल, एक बार जब उन्होंने विधान परिषद की एक महत्वपूर्ण बैठक में भाग लेने के लिए एक मुकदमे की सुनवाई को मुल्तवी करने को कहा तो अखबारों में इस आशय की टिप्पणी भी हुई कि ऐसे पदों पर बैरिस्टरों की नियुक्ति अनुचित थी क्योंकि इससे वह अपने मुवक्किलों के काम की उपेक्षा की ओर प्रवृत्त हो सकते थे। बदरुद्दीन इशारा समझ गये और उन्होंने नगरपालिका से त्यागपत्र दे दिया।

अब तक अंग्रेजों ने भारतीयों को स्वयं उन्हीं के देश के शासन के काम में साझीदार बनाने का कभी कोई प्रयास नहीं किया था। कानूनों को उनके कारणों और उनसे अपेक्षित परिणामों की कोई व्याख्या किये बिना मनमाने ढंग से तैयार किया गया था। जब 1880 में लार्ड रिपन वाइसराय बने तो उन्होंने इस हानिप्रद स्थिति को सुधारने के लिए कुछ करने का संकल्प किया। वह उत्सुक थे कि लोगों को कानूनों के बनने से पहले विधि-निर्माण की प्रक्रिया की पूरी जानकारी और उस पर विचार-विमर्श करने का मौका मिले। उन्होंने यह भी महसूस किया कि जिला-स्तर पर कलेक्टर के पूर्णतया निरंकुश शासन के स्थान पर सुनिश्चित सीमित स्वशासन की व्यवस्था भी हो सकती थी।

तो यह था उद्देश्य विधान परिषद का जिसके सदस्य के तौर पर बंबई के गवर्नर ने बदरुद्दीन को नामजद किया था। जैसा कि हमने पहले भी कहा बदरुद्दीन की निर्वाचन प्रणाली में जबरदस्त आस्था थी, विशेषकर ऐसी स्थिति में जब मतदाताओं में कुछ शैक्षिक योग्यता हो। साथ ही उनको यह भी लगता था, "हजारों ऐसे सक्षम, ईमानदार और अनुभवी सज्जनों की सेवाएं प्राप्त करने से, जिनका देश की सेवा के सम्मान को छोड़ और कोई उद्देश्य नहीं है, राष्ट्र को जबरदस्त लाभ पहुंचेगा।" इस मत में यद्यपि काफी सत्य है, परंतु उस समय जब निर्वाचन प्रणाली अभी नयी, सीमित और अपरीक्षित थी, उसकी कमजोरियां और दोष स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं हुए थे। फिर भी जैसा कि हमने बार बार पाया लोकतंत्र (अर्थात निर्वाचित सरकार) आदर्श प्रणाली तो नहीं है परंतु अब तक प्राप्य सभी प्रणालियों से बेहतर है।

विधान परिषद में अपने पहले भाषण में बदरुद्दीन ने अपने अंग्रेज सहकर्मियों को यह संकेत देकर चौंका दिया कि एक निश्चित प्रतिशत निर्वाचित सदस्यों वाले जिला स्तर के स्थानीय बोर्ड बनाने की महान योजना सारे देश के लिए और अधिक व्यापक स्तर पर स्वशासन की दिशा में केवल पहला कदम हो सकती है। इसके साथ ही उन्होंने स्थानीय स्वशासन बिल के उस समय तैयार किये गये दस्तावेज की खूब आलोचना की क्योंकि उसमें गवर्नर और जिला कलेक्टरों को आवश्यकता से कहीं अधिक अधिकार दिये गये थे। उन्होंने स्वयं गवर्नर को ही संबोधित करते हुए कहा कि वह वर्तमान गवर्नर का कितना ही आदर और विश्वास क्यों न करें, गवर्नर को ऐसे मनमाने अधिकार देना सैद्धांतिक रूप से गलत था। उन्होंने यह भी कहा कि सामूहिक उत्तरदायित्व के ठोस सिद्धांत निर्धारित करना विधान परिषद का कर्तव्य था और यदि सभी मामलों में अंतिम निर्णय गवर्नर पर छोड़ दिया गया तो वास्तव में परिषद अपने उत्तरदायित्व का परित्याग कर रही होगी।

"अतः परिषद में महामहिम के प्रति गहरे आदर भाव और महामहिम के प्रबुद्ध प्रशासन और जनता के प्रति उनकी असंदिग्ध सहानुभूति पर परम विश्वास के साथ और इस दृढ़ विश्वास के बावजूद कि महामहिम स्थानीय स्वशासन परियोजना को उचित मौका देने के लिए कृत-संकल्प है, मैं इस प्रकार की धारा को शामिल किये जाने का सख्ती से विरोध अवश्य करना चाहूंगा क्योंकि मेरे विचार में सैद्धांतिक तौर पर यह मूलतया गलत है। इस विषय पर महामहिम के विचारों से हम अवगत हैं और उन पर विश्वास कर सकते हैं। परंतु इस बात की कोई गारंटी नहीं कि उनका उत्तराधिकारी कौन होगा और उसकी राय क्या होगी और यह मुद्दा इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि इसे संदेह या दुविधा की स्थिति में नहीं छोड़ा जा सकता।"

गवर्नर और उनके सलाहकारों को एक ऐसे युवा द्वारा संबोधित, जो परिषद में एकमात्र भारतीय था, यह एक जोरदार भाषण था। परंतु गवर्नर ने निष्पक्ष रूप से इस आलोचना को स्वीकार किया। उन्होंने बिल के संशोधन के लिए एक समिति बनाने की बात मान ली ताकि उसे सभी जिला स्थानीय बोर्डों के लिए एक आदर्श बनाने का प्रयत्न किया जा सके।

बदरुद्दीन इस समिति के सदस्य थे और उन्होंने इस पर बड़ी मेहनत से काम किया। उन्हें मालूम था कि इस बिल की वाक्य-रचना का क्या महत्व है—उससे स्थानीय शासन में भारतीयों की भागीदारी में तेजी भी आ सकती थी और मंदी भी। इस बिल को देश भर में ऐसे सभी बिलों के लिए आदर्श के रूप में इस्तेमाल किया जाना था और उसमें ऐसी एक भी धारा या शब्द को शामिल नहीं किया जा सकता था जिस पर बाद में पछतावा हो। बदरुद्दीन ने भारतीयों को अधिकतम उत्तरदायित्व और भागीदारी दिलाने के लिए बिल पर अपनी समिति के साथ तर्क-वितर्क किया। समिति के अन्य सभी सदस्य अंग्रेज थे और

बदरुद्दीन अपने दृष्टिकोण को सदैव स्वीकार हरगिज नहीं करा पाते। यह जानने पर भी कि अन्य सदस्यों को राजी कर पाने की कोई आशा नहीं थी, वह अपनी राय व्यक्त करने से कभी नहीं चूकते थे और यद्यपि वह कई विषयों में असफल रहे, लेकिन फिर भी कुल मिलाकर उन्हें उल्लेखनीय सफलता मिली।

वह दो ऐसे परिवर्तन कराने में कामयाब रहे जिनमें हमारी विशेष रुचि है। यह निर्णय किया गया था कि स्थानीय विषयों में मतदाता की हैसियत प्राप्त करने के लिए संपत्ति के स्वामित्व को मानदंड समझा जायेगा और ऐसा कोई भी व्यक्ति जिसने जेल की सजा काटी हो मताधिकार के अयोग्य होगा। इन दोनों ही शर्तों पर बदरुद्दीन ने तीव्र आपत्ति की। उन्होंने जोर दिया कि संपत्ति को एकमात्र मानदंड नहीं माना जाना चाहिए—शैक्षिक और व्यावसायिक योग्यताओं को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। "निर्वाचक जितना अधिक बुद्धिमान होगा प्रयोग की सफलता की भी उतनी ही अधिक आशाएं होगीं।" जेल की सजा, मतदाता के लिए अयोग्यता होने के विषय में उन्होंने स्पष्ट किया कि यदि सजा किसी नैतिक अपराध के लिए न हो तो व्यक्ति को मताधिकार से वंचित नहीं किया जाना चाहिए। एक सम्मान्य व्यक्ति को भी मानहानि या झूठी निंदा के लिए जेल भेजा जा सकता था।

जैसा हमने देखा बदरुद्दीन बिल को यथासंभव विस्तृत और संपूर्ण रूप देने के लिए हर टुकड़े पर लड़े और तैयार हो जाने पर स्थानीय जनता को इसमें केवल बाहरी तौर पर ही नहीं बल्कि वास्तविक उत्तरदायित्व दिया गया था। बदरुद्दीन को ज्ञात था कि इस उपाय की सफलता या असफलता पर बहुत कुछ निर्भर करता था क्योंकि स्थानीय बोर्डों के उपयोगी और सुचारु रूप से काम करने पर अंग्रेजों को यह सिद्ध हो जाता कि भले ही सीमित क्षेत्र में क्यों न हों, भारतीय स्वशासन में सक्षम हैं। इसके परिणामस्वरूप और ऊंचे स्तर पर सत्ता संभालने का मार्ग प्रशस्त होगा, जैसा कि वास्तव में हुआ भी। गवर्नर ने जिसका सुझाव दिया था वह थी एक महत्वपूर्ण परामर्श समिति। बदरुद्दीन जो चाहते थे और जो उन्होंने आखिरकार हासिल भी किया वो था उत्तरदायित्व और अधिकार संपन्न निर्वाचित निकाय का गठन। विधान परिषद में बदरुद्दीन का योगदान जितना समझा गया उससे अधिक था। उससे हमारे भावी लोकतंत्र की आधारशिला रखी गई।

बदरुद्दीन अपने को भारतीय भावनाओं की कसौटी के रूप में मानते थे और भारतीय जनता की ओर से उनके विचारों और अनुभूतियों को ब्रिटिश सरकार तक पहुंचाने को उन्होंने अपना कर्तव्य बना लिया। यह दोनों पक्षों की वास्तविक सेवा थी और उनकी राय इतनी न्यायोचित, उच्च-सैद्धांतिक और स्पष्ट रूप से सही होती थी कि वह अंग्रेजों के दृष्टिकोण को अपनी बात का कायल करने में समर्थ थे। यह बात प्रमुख विषयों के बारे में खासतौर पर सही थी जिन पर वह, फिरोजशाह मेहता और तैलंग मिलकर बंबई प्रेसिडेंसी

एसोसिएशन के मंच से बोला और कार्यवाही किया करते थे। यह एक चकित कर देने की हद तक क्रियाशील संस्था थी जिसके सभी सदस्य बंबई के अधिक राजनीति प्रवृत्त और सम्मानित लोग थे, हालांकि इसके प्रभावकारी नेता हमारे यही तीन मित्र थे। प्रत्येक सार्वजनिक मसले को उठाने और उसकी 'निडर और निर्भीक हिमायत' में पर 'संयम और विवेक के साथ' अपनी राय देने से वो कभी नहीं थकते थे। अपने कार्यकलापों में वो सभाएं, स्मरणोत्सव, याचिकाएं, संबोधन और 'सार्वजनिक हित में विरोध' जैसे प्रत्येक मौके का लाभ उठाते थे। एक साथ वो सभी समुदायों को अपने साथ ले जाने में पर्याप्त रूप से प्रभावशील थे और यदि उल्टी तरह कहें, तो जब तीनों एक साथ सरकार को प्रतिवेदन करते तो सरकार को मालूम होता था कि उनकी वाणी को समस्त जनता का समर्थन प्राप्त था। यह बिल्कुल सही अर्थों में नेतृत्व था।

जब कोई व्यक्ति वर्तमान के विषय में कुशाग्र और तीक्ष्ण हो तो उसे चतुर कहते हैं। यदि उसकी पहुंच थोड़ी और लंबी तथा विस्तृत हो—यानी उसकी चतुराई ज्यादा बड़े क्षेत्र तथा भविष्य में कुछ और आगे तक पहुंचे—तो उसे बुद्धिमान कहा जाता है। परंतु जब उसके मानसिक फैलाव में सभी कुछ शामिल हो और सुदूर भविष्य तक पहुंच हो तो उसे विवेकपूर्ण कहा जा सकता है। बदरुद्दीन का नेतृत्व सदैव विवेकपूर्ण था और लोगों ने उनके निर्णय पर विश्वास करना सीखा। इल्बर्ट बिल पर हम विस्तार से बात कर चुके हैं। यह बदरुद्दीन द्वारा उठाई गई समस्याओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण नहीं था क्योंकि इससे प्रत्यक्ष रूप से बहुत कम लोग प्रभावित हुए थे। परंतु अन्य महत्वपूर्ण प्रश्नों की अपेक्षा इसका अधिक नाटकीय प्रभाव पड़ा क्योंकि इसने अतिसंवेदनशील स्थान को—'गोरों' और 'मूल निवासियों', दोनों के जातीय अभिमान और आत्मसम्मान को छुआ।

यद्यपि बहुत उत्तेजनीय सार्वजनिक विषय तो नहीं, फिर भी एक अन्य अत्यधिक महत्वपूर्ण मसला था भारतीय सिविल सर्विस में आयु सीमा का प्रश्न। लार्ड लिटन ने भारतीय सिविल सर्विस परीक्षा में उत्तीर्ण होने की आयु 19 वर्ष करने का नियम बनाने में सफलता प्राप्त की और इस प्रकार वास्तव में भारतीयों का इस सेवा में भर्ती होना लगभग असंभव कर दिया। भारतीय सिविल सर्विस की परीक्षा (जो स्वाधीनता के बाद आई.ए.एस. बन गई) अत्यंत कठिन थी और यह असंभावित था कि उस आयु का कोई भारतीय बालक उसके लिए तैयार होता। इस प्रकार इस नियम का वास्तविक अर्थ यह निकला कि भारत का प्रशासन स्थायी रूप से अंग्रेजों के हाथों में होना था। बदरुद्दीन ने इस विषय पर इतने प्रभावशाली ढंग से और विश्वास के साथ लिखा और बोला कि सरकार आयु सीमा 22 वर्ष तक बढ़ाने पर सहमत हो गई। इस सारी बात का महत्व इस कारण कुछ कम हो गया कि स्वयं उनके पुत्र ने उन्नीस वर्ष की उम्र में आई.सी.एस. में उत्तीर्ण होने की उपलब्धि हासिल की। परंतु उन्होंने इसको असाधारण सौभाग्य और अपवादजनक

परिस्थितियों का परिणाम माना 'जो कि सौ में से निन्यानवें बार देखने में नहीं आता।' इस परीक्षा के लिए आयु सीमा बढ़ाने के दूरगामी प्रभावों पर विचार करना रोचक होगा। इसका तात्पर्य यह था कि भारत के स्वाधीन होते होते हमारे पास हमारे अपने कुशल प्रशासकों का एक बड़ा समूह होता।

प्रत्येक कुशल प्रबंधक जानता है कि आलोचना और मीन-मेख निकालना अक्सर बेकार सिद्ध होगा यदि इसके साथ साथ सही बातों की प्रशंसा और कदर न की जाये। अतः बदरुद्दीन ने प्रत्येक आवश्यक विषय पर सार्वजनिक प्रशंसा करने का विशेष ध्यान रखा। उदाहरणतया उन्हें ज्ञात था कि लार्ड रिपन से, जो उत्कृष्ट वाइसराय रहे और जिन्होंने भारतीयों को प्रशासन में अधिक भागीदारी दिलाने की प्रक्रिया में सहायता की, ब्रिटेन की टोरी पार्टी (रूढ़िवादी दल) दिल से नफरत करती थी। अतः यह महत्वपूर्ण था व्यक्तिगत प्रशंसा व्यक्त करने के साथ साथ राजनीतिक वक्तव्य के तौर पर भी भारतीय जनता लार्ड रिपन के प्रति अपने सच्चे स्नेह और सम्मान को प्रदर्शित करे। इसलिए उनके सम्मान में एक भव्य समारोह का आयोजन किया गया, उनकी प्रशंसा की गई और मान-पत्र प्रदान किये गये। अंग्रेजों को कोई संदेह नहीं रहा कि भारतीय लार्ड रिपन और उनकी नीतियों के प्रशंसक हैं।

इस प्रकार के अधिकांश कार्यकलाप बंबई प्रेसिडेंसी एसोसिएशन और अंजुमन-ए-इस्लाम जैसी विभिन्न संस्थाओं के जरिये संपन्न होते थे। यद्यपि ये बंबई की स्थानीय संस्थाएं थीं, फिर भी उनका प्रभाव उनके अपने राज्य से कहीं दूर तक पहुंचता था और एक तरह से वो भारत की समस्त जनता की भावनाओं और विचारों के प्रतिनिधित्व का दावा कर सकती थीं। ह्यूम नाम के एक अंग्रेज ने सोचा कि अब समय आ गया है कि एक वास्तविक रूप में अखिल भारतीय संस्था का गठन किया जाये जो देश भर के शिक्षित भारतीयों की इच्छाओं और भावनाओं को एकत्रित, व्यवस्थित और प्रसारित कर सके। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की और आरंभ से ही बदरुद्दीन को उसमें शामिल किया। दरअसल, बदरुद्दीन ने कांग्रेस के शुरुआत के वर्षों में इतनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी कि आधी शताब्दी के बाद महात्मा गांधी ने लिखा, "कई वर्षों तक बदरुद्दीन तैयबजी कांग्रेस के विमर्शों में निर्णायक कारक रहे !"

एल्बर्ट आक्टेवियन ह्यूम एक असाधारण अंग्रेज थे, जिनकी जीवनी अध्ययन योग्य है। उनकी अनेक रुचियों में पक्षी-जीवन भी था और भारत के प्रकृति-वैज्ञानिक उन्हें भारतीय पक्षी-विज्ञान के जनक के रूप में मानते थे। भारतीय सिविल सर्विस के सदस्य के रूप में वह भारतीयों से इतना अभिन्न बने और हर तरह से उनकी हालत सुधारने के इतना उत्सुक रहे कि वह ब्रिटिश सरकार के सम्मुख बदनाम हो गये और आखिरकार उन्होंने सेवा से त्यागपत्र दे दिया। यह विचार विचित्र लगता है कि ग्रामीण, गरीबी और ऋण, जाति-प्रथा

से उत्पन्न असमानताएं, विवाह नियम और दहेज प्रणाली जैसी सामाजिक समस्याएं जिनसे ह्यूम व्यथित थे सब वही हैं जिनसे हम आज परेशान हैं। हालांकि स्वाधीनता के बाद से इन विषयों पर कुछ अधिनियम पारित किये जा चुके हैं—परंतु वास्तविक अंतर बहुत कम रहा है और इनके बारे में ह्यूम के लिखने के एक शताब्दी बाद, आज भी यही बातें हम सबके लिए चिंता का विषय बनी हुई हैं। दरअसल आज वह बातें पहले से अधिक परेशानी पैदा करती हैं क्योंकि उनको बदलने के आधी शताब्दी के प्रयत्नों के बावजूद आज वो पहले से अधिक मजबूती से संस्थापित लगती हैं।

आरंभ से ही बदरुद्दीन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सच्चे समर्थक थे। उनको लगता था कि उसके उद्देश्य उनके अपने ही उद्देश्य और आकांक्षाओं को व्यक्त करते थे और इस प्रकार वह अपने सार्वजनिक जीवन को कांग्रेस के साथ घनिष्ठ रूप से संबंधित मान पाते थे। उनका अपना आदर्शवाद नयी संस्था के उद्देश्यों और लक्ष्यों के अनुरूप था। उनका ख्याल था कि प्रत्येक भारतीय को कांग्रेस में भर्ती होना चाहिए और भारतीय मुसलमानों को उसमें सक्रिय रूप से हिस्सा लेना चाहिए क्योंकि उनका विचार था कि भारतीय मुसलमानों को आत्मसम्मान वापस दिलाने का बेहतरीन तरीका यही होगा कि वे अन्य समुदायों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करें। अंत में जाकर, मुख्य रूप से सर सैयद अहमद खान के प्रतिकूल रुख के कारण यह नहीं हो पाया क्योंकि बहुत वर्षों तक हिंदू-मुस्लिम एकता का प्रचार करने के बाद वह अचानक अलगाववाद फैलाने में लग गये। सर सैयद उत्तर भारत में प्रभावशाली थे और उन्हीं के कारण मुसलमानों को भारी संख्या में कांग्रेस में भर्ती होने को राजी करने में बदरुद्दीन असफल रहे। यह उनके लिए एक तीखी और स्थायी निराशा का कारण बना, परंतु इसके लिए उन्हीं को दोषी ठहराना बेकार था। कोई भी व्यक्ति इससे अधिक प्रयत्न नहीं कर सकता था। ब्रिटिश सरकार के लिए हिंदुओं और मुसलमानों को अलग रखना उपयुक्त था और इस मामले में सर सैयद एक उपयोगी सहायक सिद्ध हुए।

लार्ड रिपन के सेवा-निवृत होने पर लार्ड डफरिन ने, जो कि बिल्कुल अलग तरह के व्यक्ति थे, उनका पदभार ग्रहण किया। उन्होंने भारत आगमन के शीघ्र बाद बदरुद्दीन से मिलने का कार्यक्रम बनाया। यद्यपि हम यह नहीं जानते कि इस मुलाकात में किस विषय पर विचार-विमर्श हुआ, फिर भी यह ज्ञात है कि बदरुद्दीन ने अपने आपको उनके साथ किसी भी प्रकार की घनिष्ठता के असमर्थ पाया। इसके शीघ्र बाद लार्ड डफरिन की सैयद अहमद खान के साथ उत्तर में कुछ मुलाकातें हुईं और वह व्यक्ति जो अब तक हिंदू-मुस्लिम एकता का जबरदस्त हिमायती था, लगभग एकदम हिंदू-विरोधी और कांग्रेस-विरोधी बन गया। कुछ ही समय बाद अंग्रेज सरकार ने उन्हें नाइट की उपाधि प्रदान की।

'फूट डालो और राज करो' की इस नीति में अनेक दुर्भाग्यपूर्ण संयोगों की शृंखला

भी सहायक रही। 1885 में कांग्रेस का पहला अधिवेशन बंबई प्रेसिडेंसी एसोसिएशन के तत्वावधान में संपन्न हुआ। बदरुद्दीन उसके अध्यक्ष थे। स्वाभाविक है कि बदरुद्दीन को कांग्रेस के पहले अधिवेशन की अध्यक्षता करने को कहा गया, परंतु क्योंकि वह स्वयं बंबई निवासी थे, उनका विचार था कि इसके लिए बजाय उनके एक गैर-बंबई निवासी को आमंत्रित करना अधिक उचित होगा। इसी विचार के अनुसार कलकत्ता के डब्ल्यू.सी. बैनर्जी चुने गये। यह दुर्भाग्य था कि कांग्रेस अधिवेशन से बिल्कुल पूर्व बदरुद्दीन पर कैंबे के नवाब़ की सहायता की पुकार पहुंची, जो अपनी गद्दी के छिनने के खतरे का सामना कर रहे थे और कानूनी सहायता चाहते थे। कैंबे तैयबजी परिवार का गृहनगर था, नवाब उनके निजी मित्र थे और स्पष्ट है कि उनके भीषण दुर्भाग्य के समय बदरुद्दीन और उनके भाई कमरुद्दीन का कर्तव्य था कि वह उनकी यथासंभव सहायता करें।

अतः जब बंबई में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पहला अधिवेशन हुआ, तो बदरुद्दीन और कमरुद्दीन, जो दोनों ही प्रतिनिधि थे, उसमें भाग नहीं ले सके क्योंकि वे दोनों ही कैंबे में थे और नवाब को उनके विरुद्ध दायर अभियोगों से बचा रहे थे। अधिवेशन में दो विशिष्ट मुस्लिम प्रतिनिधियों के अनुपस्थित होने से कांग्रेस के दुश्मनों को यह मुहिम छेड़ने का अवसर मिला कि मुस्लिम समुदाय के लोग उसका समर्थन नहीं करते। बाद में बदरुद्दीन ने अपने अनेक राजनैतिक भाषणों में बड़ी कठिनाई से बात का खंडन किया और अपनी अनुपस्थिति के कारण स्पष्ट किये। और उनकी जीवनी लिखने वालों ने घटना के बाद आने वाली बुद्धि का प्रयोग कर सुझाव दिया कि उन्हें नवाब के प्रति अपनी वफादारी को कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेने के आड़े नहीं आने देना चाहिए था। परंतु फिर भी, किसी भी व्यक्ति को मित्रता को अन्य बातों से ऊपर मानने के लिए दोषी नहीं ठहराया जाना चाहिए।

अगले वर्ष बदरुद्दीन को एक बार फिर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन की अध्यक्षता करने को कहा गया। परंतु उस समय तक उनका स्वास्थ्य इतना बिगड़ गया था कि कांग्रेस अधिवेशन के समय वह चिकित्सा के लिए इंग्लैंड में थे और कांग्रेस को मुस्लिम समर्थन न प्राप्त होने की फुसफुसाहट को और जोर पकड़ने का मौका मिला।

अंत में 1887 में जाकर बदरुद्दीन मद्रास में आयोजित तीसरे कांग्रेस अधिवेशन में न केवल भाग ही ले पाये बल्कि उन्होंने इसकी अध्यक्षता भी की। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि उनके विचार में, "अध्यक्षता करने का सम्मान—मुझे अब तक प्रदान किये गये और भविष्य में संभावित सम्मानों में सबसे बड़ा है।" जिन लोगों ने उनका अध्यक्षीय भाषण सुना और बैठक को संचालित करने का ढंग देखा उनकी याददाश्त में वर्षों बाद भी उसकी छाप ताजा थी। एक समाचारपत्र ने कहा, "श्री बदरुद्दीन तैयबजी के रूप में कांग्रेस को ऐसे अध्यक्ष को पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ जिन्होंने न केवल मुसलमान समुदाय में अपनी अभिस्वीकृत प्रतिष्ठा के कारण बल्कि मानव प्रबंधन में अपने अद्‌भुत व्यवहार-कौशल और

वाक्पटुता से राष्ट्रीय आंदोलन के गौरव को बढ़ाया—उनके द्वारा किया गया संबोधन उत्कृष्ट प्रयास था और दम और प्रभाव में कोई अन्य अध्यक्षीय भाषण इससे बेहतर नहीं रहा है।"

ह्यूम ने बाद में लिखा, "किसी को इसमें संदेह नहीं था कि वह उनके सर्वोत्तम अध्यक्ष थे।"

बदरुद्दीन के भाषण को कुछ विस्तार से देखना शायद लाभकर होगा। यह बात उन्होंने आरंभ में ही स्पष्ट कर दी कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्षता को वह महान सम्मान मानते थे।

"आपने जो महान प्रतिष्ठा मुझे प्रदान की - जो आपके अधिकार में अपने देशवासियों को देने के लिए सबसे बड़ी है - उस पर गर्व का अनुभव न करना असंभव है। मुझे बंबई और अन्य स्थानों पर महान सार्वजनिक सभाओं को देखने का आदर प्राप्त हुआ है, परंतु इस तरह की सभा के सम्मुख मुझे बिल्कुल अनूठी अनुभूति हो रही है - एक ऐसी सभा जिसमें मात्र किसी एक नगर या प्रांत के नहीं बल्कि पूरे विशाल भारतीय महाद्वीप के प्रतिनिधि शामिल हैं - जो किसी एक स्वार्थी वर्ग के नहीं बल्कि उन लगभग असंख्य विभिन्न समुदायों के सभी हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो भारतीय जनता कहलाती है। मैंने दोनों कांग्रेसों की कार्यवाहियों का ध्यान से अध्ययन किया है और मैं निस्संकोच घोषणा करता हूं कि उनमें ऐसी प्रतिभा, बुद्धिमानी और वाकचातुर्य दिखाई देता है जिस पर हमें हर तरह से गर्व होना चाहिए।

उन्होंने आगे जाकर कहा कि यह आरोप लगाया जाता है कि कांग्रेस में केवल 'शिक्षित देसी' लोग शामिल हैं और इस कारण उसका कोई महत्व नहीं है।

"यदि यह सूचित करना अभीष्ट है कि हम मात्र लोगों की भीड़ हैं जिनके पास शिक्षा को छोड़ कुछ भी योग्य नहीं है, यदि यह सूचित करना अभीष्ट है कि इस देश का कुलीन वर्ग, अभिजात वर्ग और समृद्ध वर्ग हमसे अलग रहा है तो मैं उन दावों को अत्यंत प्रत्यक्ष और संपूर्ण रूप से अस्वीकार करता हूं। जो भी व्यक्ति ऐसा दावा करे मैं उससे कहना चाहूंगा, 'मेरे साथ इस सभागार में आओ और अपने चारों ओर देखो। फिर मुझे बताओ कि जन्म अथवा संपत्ति से ही नहीं बल्कि बुद्धि, शिक्षा और स्तर के हिसाब से अभिजात वर्ग का इस सभागार की दीवारों के भीतर उपस्थित प्रतिनिधित्व से बेहतर तुम्हें कहां दिखाई देगा।' परंतु सज्जनो, यदि इस प्रकार के परोक्ष संकेत का अभिप्राय नहीं है तो मैं केवल इतना कहना चाहूंगा कि मुझे इस विचार से प्रसन्नता होती है कि कांग्रेस में भारत के 'शिक्षित देसी' लोग ही शामिल हैं। सज्जनो, मैं उनमें से हूं जिन्हें शिक्षित ही नहीं बल्कि 'इस देश का मूल निवासी' कहे जाने पर गर्व है।

सबसे अधिक बदरुद्दीन इस बात पर बल देने के लिए उत्सुक थे कि मुसलमान कांग्रेस के लक्ष्यों का समर्थन करते थे और उसके साथ एकजुट थे।

"मैं ईमानदारी से आपके समक्ष यह स्वीकार करना चाहूंगा कि मेरे स्वास्थ्य की वर्तमान स्थिति के बावजूद आपके विचार-विमर्श की अध्यक्षता के महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व को निभाने की प्रेरणा मुझे इस विशाल उद्देश्य ने दी कि यथाशक्ति मैं सिद्ध करूं कि व्यक्तिगत तौर पर ही नहीं बल्कि अंजुमन-ए-इस्लाम के प्रतिनिधि के नाते भी मैं यह नहीं मानता कि भारत के विभिन्न समुदायों—हिंदू, मुसलमान, पारसी या ईसाई की स्थिति या आपसी संबंधों में ऐसा कुछ भी है जो किसी समुदाय-विशेष के नेताओं को प्रेरित करे कि वो उन महान सामान्य सुधारों, उन महत्वपूर्ण अधिकारों की प्राप्ति के प्रयासों में एक-दूसरे से अलग हो जायें जो सभी के सामान्य हित में हैं और जिनको प्रदान किये जाने के विषय में मेरा दृढ़ विश्वास है कि सरकार पर गंभीरता और एकमत से जोर डाला जाये।"

जहां तक प्रस्तावों का संबंध है बदरुद्दीन उनके सर्वसम्मति से पारित किये जाने के कायल थे। कांग्रेस की शक्ति उसकी सर्वसम्मति में थी। उन्होंने कहा :

"सज्जनो, मेरी सदैव इच्छा रही है कि इस कांग्रेस में जो भी प्रस्ताव पारित हो वह केवल बहुमत से नहीं बल्कि जहां तक संभव हो एकमत से पारित हो।" एक मामले में जहां प्रतिनिधियों में मतभेद था और कुछ अशांति का खतरा था, उन्होंने समय मांगा।

"यदि आप मुझे प्रस्ताव, पहले संशोधन और दूसरे संशोधन के प्रस्तावकों और अन्य विशिष्ट प्रतिनिधियों से विचार-विमर्श के लिए पांच मिनट की अनुमति दें तो मेरा विचार है कि ऐसा प्रस्ताव प्राप्त करने में अवश्य सफल हो जाऊंगा जिसके एकमत से आपकी स्वीकृति प्राप्त होगी।"

कुछ ही मिनटों में वह प्रस्ताव को पुनः इस तरह तैयार करने में सफल हुए कि वह बेहिचक पारित हो गया।

यह स्पष्ट है कि अध्यक्ष के तौर पर बदरुद्दीन ने उन विषयों पर ध्यान केंद्रित करने का प्रयास किया जिन्हें सभी प्रतिनिधियों का ही नहीं बल्कि हमारे देश की समस्त जनता का समर्थन प्राप्त हो सकता था। उनकी उन विषयों में कोई रुचि नहीं थी जो कुछ ही वर्गों या गुटों के हित में हों और उनसे भी कम उन मामलों में जिन पर एक गुट दूसरे से अलग हो जाये। उनकी रुचि ऐसे विचारों पर बल देने और लोगों का ध्यान आकर्षित करने में थी जो सभी 'शिक्षित देसी' लोगों में सामान्य रूप से व्याप्त है, जिनसे वह सब आपस में बंधे और जुड़े थे और जिनके कारण वो अंग्रेजों के सम्मुख एक संयुक्त और अविभाज्य जनता की छवि प्रस्तुत कर सकते थे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन की अध्यक्षता करते बदरुद्दीन खूब प्रयास करते रहे कि शैशव में ही कांग्रेस को हर तरह से मजबूत किया जाये। इसको मजबूत करने का मुख्य रूप से यह अर्थ था कि इसे सभी भारतीय समुदायों के विचारों का प्रतिनिधित्व

करने वाली वास्तविक अखिल भारतीय संस्था के रूप में मान्यता और स्वीकृति प्राप्त हो। कांग्रेस "समस्त विशाल भारतीय महाद्वीप की वाणी है—जिसमें सभी वर्गों और लगभग असंख्य उन सभी समुदायों के सभी हितों का प्रतिनिधित्व है जिनको भारत की जनता में शामिल किया जाता है।"

भारत में जो सांस्कृतिक समृद्धि और विविधता पाई जाती है उस पर बदरुद्दीन को सदैव गर्व रहा और वह अक्सर इसकी चर्चा करते थे। और उन्हें यह ज्ञात था कि कोई भी संगठन जो सभी समुदायों की निष्ठा प्राप्त कर सकता है स्वयं इतना मजबूत हो जायेगा कि हर तरह की कठिनाई का सामना कर सकेगा।

मद्रास अधिवेशन की समाप्ति पर उन्होंने अपनी भावनाएं स्पष्ट कीं :

"मैंने इस सिद्धांत का पालन किया कि कांग्रेस में तब तक कोई प्रस्ताव पारित नहीं किया जाये जब तक उसे सभी उचित और विचारशील लोगों की स्वीकृति न मिले—"

एक अन्य सिद्धांत जो बदरुद्दीन ने लागू किया वह था कि कांग्रेस में ऐसे किसी भी विषय पर बहस नहीं की जा सकती जिससे किसी भी समुदाय अथवा संगठन के लोगों को ठेस पहुचती हो। यह नियम संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में वीटो जैसे निषेधाधिकार का अग्रदूत-सा लगता था जो राष्ट्रसघ की गलतियों से सीखा गया सबक था।

लगता है कि बदरुद्दीन ने इस बात को स्पष्ट सत्य के रूप में उभरने से बहुत पहले महसूस कर लिया था कि किसी भी संस्था के मजबूत और प्रभावशील होने के लिए साधारण बहुमत कभी पर्याप्त नहीं होता। सर्वसम्मति का होना अनिवार्य था।

उन्होंने यह भी महसूस किया कि भारतीय मुसलमानों की वास्तविक मनोवैज्ञानिक और भौतिक समस्याएं हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती और मुसलमानों में राष्ट्रीय गतिविधियों में हृदय से शामिल होने का साहस उत्पन्न करने का एक तरीका था उन्हें यह आश्वासन देना कि उनकी भावनाओं का सम्मान किया जायेगा और ऐसे किसी भी विषय पर बात नहीं होगी जो उनके लिए अरुचिकर हो। यह विचित्र बात है कि एक ओर तो वह उन्हें पर्दा और ऐसी अन्य दकियानूसी प्रथाओं को छोड़ने के लिए राजी करने का प्रयास कर रहे थे और इसके साथ ही वह उनकी भावनाओं को अन्य समुदायों द्वारा खुली आलोचना के आघात से बचाने की भी कोशिश कर रहे थे।

सर्वसम्मति और वीटो से यह आशा उत्पन्न होती थी कि लागू किये जाने पर यह दो सिद्धांत कांग्रेस को असली प्रतिनिधिक अखिल भारतीय संस्था के रूप में मान्यता दिलाने के लिए पर्याप्त होंगे। यह दोनों सिद्धांत स्वयं कांग्रेस की भी रक्षा करेंगे क्योंकि उनकी वजह से उग्र अथवा अनुचित रुख अपनाना असंभव हो जायेगा। बदरुद्दीन ने कहा, "अपनी मांग में संतुलन बरतें, आलोचना में न्याय-संगत रहें व तथ्यों के विषय में सही रहें" और कांग्रेस को अपने आप वह सम्मान और सुनवाई मिलेगी जिसकी वह हकदार है।

मद्रास अधिवेशन में मुसलमान बड़ी संख्या में शामिल हुए थे। मद्रास अधिवेशन से कुछ ही दिन पूर्व सैयद अहमद खान ने अपना पहला कांग्रेस-विरोधी भाषण दिया था और बहुत से लोगों को तब तक उनकी कायापलट के बारे में मालूम नहीं था। बंबई के मुसलमान अवश्य ही बदरुद्दीन के अनुसरण से संतुष्ट थे और कांग्रेस के पीछे थे। मद्रास कांग्रेस के तुरंत बाद ही ब्रिटिश सरकार की चालाकी से भरी 'फूट डालो और राज करो' की नीति का पहला भद्दा नतीजा देखने में आया।

मद्रास अधिवेशन के बाद बदरुद्दीन ने सोचा कि मुसलमानों को भारी संख्या में कांग्रेस में शामिल होने को राजी करने का प्रयास करना उनका एक प्रमुख कार्य होगा। उन्होंने देश के सभी भागों के मुस्लिम नेताओं से पत्र-व्यवहार शुरू किया और उन्हें आश्वासन दिया कि इस सिद्धांत के होते कि किसी भी समुदाय द्वारा आपत्ति व्यक्ति किये जाने पर कोई प्रस्ताव पारित नहीं किया जा सकता, मुसलमानों को अन्य समुदायों द्वारा परेशान किये जाने का कोई भय नहीं होना चाहिए। अब जाकर उन्हें ज्ञात हुआ कि सैयद अहमद खान ने लखनऊ में कांग्रेस की निंदा करते हुए भाषण दिया था और मुसलमानों को उससे दूर रहने का परामर्श दिया था। यह भाषण लंदन के समाचारपत्रों में प्रकाशित हुआ, और जैसा कि हम देख चुके हैं, कुछ दिनों बाद सैयद अहमद खान को ब्रिटिश सरकार ने उपाधि से सम्मानित किया।

यह उद्दंड भाषण और इसके परिणामस्वरूप बना वातावरण बदरुद्दीन के सुविचारित और आदर्शवादी कार्य में बहुत बड़ी बाधा सिद्ध हुआ। सर सैयद से झगड़े की कोशिश किये बिना बदरुद्दीन ने शिष्ट और तर्कसंगत ढंग से पत्र लिखा।

"मेरे विचार में कांग्रेस भारत के सभी भागों के और सभी जातियों और पंथों का प्रतिनिधित्व करने वाले शिक्षित लोगों की एक सभा है जो कि समस्त भारत से संबंधित उन प्रश्नों पर बहस के लिए जमा हुई है जिनको सामान्य रूप से सभी भारतीयों की चिंता का विषय माना जाता है—अब प्रश्न यह है कि क्या इस तरह के लोगों का सम्मेलन होना चाहिए। ऐसे प्रश्न अवश्य हैं जो केवल एक जाति अथवा एक प्रांत के लिए ही लाभकर हैं, परंतु कांग्रेस में इस प्रकार के प्रश्नों पर कदापि विचार नहीं होना चाहिए—अतः मुझे यह प्रतीत होता है कि कोई भी तब तक इस तरह से कांग्रेस पर आपत्ति नहीं कर सकता जब तक उसकी धारणा यह न हो कि ऐसे कोई प्रश्न नहीं हैं जो पूरे भारत के समस्त 'मूल निवासियों' के साथ संबंधित हों।"

इसके आगे उन्होंने कहा :

> जब आपने यह भाषण दिया, आपकी राय थी कि कांग्रेस में केवल बंगाली बाबू ही शामिल हैं। मुझे यह समझ नहीं आता कि आपके मस्तिष्क में यह विचार कैसे उत्पन्न हुआ—मैं सभी मुसलमानों से कहूंगा, "उन सभी विषयों में आप अपने हिंदू

साथियों के साथ मिलकर काम करें जिन पर आप सहमत हैं, परंतु यदि वो ऐसे प्रस्ताव आगे लाते हैं जो आपके विचार में आपके लिए हानिकारक हों तो अपने पूरे जोर से आप उनका विरोध करें–

वार ـار उन्होंने मुसलमानों से अपील की :

मैं अपने मुसलमान भाईयों से केवल यह कहूंगा कि यदि आप महसूस करते हैं कि ऐसे विषय हैं जो आपको और आपके हिंदू साथियों को सामान्य रूप से प्रभावित करते हों तो आगे आकर कांग्रेस में उन पर बहस करें और जिन मामलों पर आप सब एकमत हैं, उन्हें आगे बढ़ाने में मदद करें। यदि दूसरी ओर, कोई ऐसा प्रस्ताव किया जाता है जो आप नापसंद करते हैं तो बढ़कर उसका विरोध करें और उपर्युक्त नियम के अंतर्गत उसे वापस लेना पड़ेगा। उस अवस्था में कांग्रेस में रहते आपका विरोध उसके बाहर से किये गये विरोध से अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली होगा–हां, यह नियम केवल उन नये विषयों से संबंधित है जिन पर कांग्रेस के पिछले अधिवेशनों में निश्चित रूप से निर्णय नहीं लिया गया हो। यदि ऐसे मुसलमान हैं जो तीसरे कांग्रेस सम्मेलन की कार्यवाहियों के अध्ययन के बाद अपने को इन प्रस्तावों को, या इससे पहले पारित प्रस्तावों को स्वीकार करने में असमर्थ पाते हैं तो यह और बात है। परंतु उन लोगों के मामले में जो अब तक की कार्यवाही को स्वीकार करने के बावजूद आंदोलन में सक्रिय भागीदारी से इस कारण हिचकिचाते हैं कि मुस्लिम भावनाओं के प्रतिकूल कोई प्रस्ताव पारित न हो जाये, मैं आशा करता हूं कि जो आश्वासन मैं अब दे पाया हूं उन्हें उस उत्तरदायित्व को निभाने में शामिल होने के औचित्य से कायल कर देगा जिसकी सफलता में हमारी उतनी ही गहरी रुचि है जितनी हिंदुओं, पारसियों अथवा ईसाइयों की।

एक प्रश्नकर्ता के उत्तर में उन्होंने विस्तार से कहा :

जहां तक मुसलमानों के कांग्रेस में शामिल होने के लाभ का प्रश्न है, उन्हें बिल्कुल वही फायदे होंगे जो हिंदू, पारसी या ईसाई समुदायों को और यह उन सब लोगों का, जो भारत को अपनी मातृभूमि कहते हैं, कर्तव्य है कि वो जाति, रंग और धर्म के भेद को भुलाकर सभी के सामान्य हितों को आगे बढ़ाने में एकजुट होकर कार्य करें। निस्संदेह इस देश में ऐसे बहुत से दिलेर मुसलमान हैं जिनकी वीरता बंगालियों पर उनकी कायरता के लिए ताने कसने तक सीमित है, परंतु जो एक 'साहिब' के तेवर के ख्याल तक से कांप जाते हैं और जिनकी राजनीतिक संहिता उन्हें किसी भी यूरोपीय द्वारा कही गई हर बात पर 'हां' कहने से आगे बढ़ने की अनुमति नहीं देती। यह इस बात को स्पष्ट करती है कि इतने सारे लोग कांग्रेस में शामिल क्यों नहीं हुए। उनको यह भय है कि वो यूरोपियनों की कृपा-दृष्टि से वंचित रह जायेंगे। परंतु उनमें

खुल्लमखुल्ला असली वजह बताने का साहस न होने के कारण यह बहाना करते हैं कि वो कांग्रेस का इसलिए विरोध करते हैं कि उनके विचार में वह 'ठीक नहीं है।' आप मुझसे यह स्पष्ट करने को कहते हैं कि कुछ उद्देश्यों और लक्ष्यों के बारे में अंजान होने के कारण उसके विरुद्ध हैं, कुछ धर्माधता व कट्टरपन के कारण, कुछ हिंदुओं से धार्मिक घृणा के कारण, कुछ यूरोपीय अफसरों की समुचित कृपा की इच्छा के कारण, कुछ इस भय के कारण कि वो सरकारी सेवाओं में पदोन्नति के या उपाधि और सम्मान पाने के अवसर खो देंगे, कुछ उन अन्य नेताओं से जलन के कारण जिन्होंने कांग्रेस में प्रमुख रूप से भाग लिया है और अंत में, कुछ हालांकि बहुत कम इस वास्तविक विश्वास के कारण कि संख्यात्मक और बौद्धिक तौर पर हिंदुओं से नीचे होने की वजह से मुसलमान या तो कांग्रेस में सही तरह से हिस्सा ही नहीं ले पायेंगे अथवा बहुसंख्यक हिंदू उन्हें दबा देंगे। मेरे विचार में केवल यह अंतिम कारण ही सम्मान-योग्य है। कांग्रेस के किसी संभावित प्रस्ताव से मुस्लिम हितों को नुकसान पहुंचने से बचाने के उद्देश्य से ही मैंने एक नियम पारित करवाया है जिसके अंतर्गत कांग्रेस के समक्ष ऐसे किसी भी प्रस्ताव को नहीं लाया जा सकता जिसका सभी मुस्लिम प्रतिनिधि सर्वसम्मति से अथवा लगभग सर्वसम्मति से विरोध करते हों।

बदरुद्दीन ऐसे नेता नहीं थे जो शारीरिक और मानसिक रूप से अपने समुदाय के दायरों से बाहर निकल जाने के बाद उनकी दिमागी हालत समझना बंद कर दे। वह उनके भय, उनकी असुरक्षा की भावनाओं और उनके पूर्वाग्रहों तक को भली-भांति समझते थे और निजी तौर पर उन्हें उनकी असंगतियों पर फटकारने के बावजूद सार्वजनिक तौर पर सदैव उनकी सहायता करते, समर्थन करते और साधारणतया उनका साथ देते। परंतु सर सैयद अहमद खान से थोड़े से पत्र-व्यवहार ने ही उन्हें कायल कर दिया कि सर सैयद की तथ्यों में नहीं, भावनाओं में दिलचस्पी है। उन्होंने यह भी जाना कि सर सैयद अब सरकार के हाथ का खिलौना हैं और उनसे सरकार मुसलमानों को कांग्रेस के बाहर रखकर कांग्रेस को कमजोर बनाने का काम ले रही है। भारत में शब्द की अपेक्षा धार्मिक विष हमेशा अधिक खतरनाक रहा है।

यद्यपि बदरुद्दीन जानते थे कि सर सैयद अहमद खान के साथ तर्क-संगत विवाद की कोई आशा नहीं थी, फिर भी उन्होंने कांग्रेस की अध्यक्षता के अपने कार्यकाल का पूरा वर्ष (1888) लोगों को, चाहे वे भारतीय थे अथवा अंग्रेज, कांग्रेस के वास्तविक उद्देश्य समझाने के प्रयासों में लगा दिया। यह दो प्रमुख मोर्चों पर, अथवा शायद एक भारी मोर्चे पर कठिन युद्ध था क्योंकि अंग्रेजों और सर सैयद की पार्टी के बीच स्पष्ट सांठ-गांठ थी। ह्यूम से उन्हें निरंतर हर तरह का प्रोत्साहन प्राप्त होता था। सर सैयद के बारे में ह्यूम

ने उन्हें लिखा : "मैं नहीं मानता कि वो उस तरह के निर्लज्ज और दुराग्रही मिथ्याभाषी हैं जैसा कि उनके भाषणों और लेखों से प्रतीत होता है। मेरा ख्याल है—कि वाइसराय द्वारा उन पर की गई हाल की मेहरबानी से—उनका सिर पूरी तरह चकरा गया है।"

वैसे इन सब बातों से बदरुद्दीन को अधिक संतोष नहीं मिल सका होगा क्योंकि यह स्पष्ट हो गया था कि मुसलमानों को कांग्रेस में शामिल करने की लड़ाई वह हार रहे हैं। यह उनके जीवन् की सबसे दुखद पराजय थी।

4

बदरुद्दीन और मुसलमान

बदरुद्दीन स्पष्ट रूप से जानते थे कि मुसलमान होने का क्या मतलब है। वह इस्लाम के उपदेशों में हृदय से विश्वास करते थे और नमाज व रोजा जैसे धार्मिक कर्तव्य अत्यत औपचारिकता से निभाते थे। उन्होंने मदिरा कभी छुई तक नहीं। जब 15 वर्ष की आयु में वह इंग्लैंड के लिए रवाना होने ही वाले थे, उनके पिता ने उनसे एक गंभीर प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर कराये कि अपने विदेश प्रवास के दौरान धर्म पर अपनी आस्था में और ऊपरी तौर पर उसके पालन में कोई ढील नहीं आने देंगे। इस प्रतिज्ञा को उन्होंने जीवन-पर्यंत निभाया।

परंतु जब हम यह कहते हैं कि उन्हें इसका स्पष्ट ज्ञान था कि एक अच्छा मुसलमान होने का क्या मतलब है तो हमारा वास्तविक तात्पर्य यह है उन्हें धर्म के अनिवार्य और गैर-अनिवार्य पहलुओं के बीच कभी कोई भ्रांति नहीं हुई। स्पष्ट है कि मदिरा और सूअर के गोश्त का निषेध अरबी रेगिस्तान की गर्म जलवायु में बेहतर मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए हितकारी था। सभी नशीले पेयों का ठंडे की अपेक्षा गर्म जलवायु में अधिक तेज प्रभाव पड़ता है, विशेषकर ऐसे लोगों पर जिनमें आत्म-संयम की आदत न हो। स्मरणीय है कि पैगंबर मोहम्मद द्वारा अपने संदेश का प्रचार करने से पूर्व अरब के लोगों में शराबखोरी एक बड़ी लत थी। इसी तरह जब तक सूअर को साफ-सुथरे हालात में न रखा जाये और उसकी उचित देखभाल न की गई हो, उसका गोश्त कई तरह की बीमारियों को जन्म दे सकता है। क्योंकि सातवीं शताब्दी के अरब में स्वास्थ्यकारी हालात में सूअर-पालन नहीं किया जा सकता था, अतः बेहतर यही था कि सूअर को व्यंजन-सूची से ही हटा दिया जाता। इस प्रकार यदि इस्लाम की निषेधाज्ञाओं को सातवीं शताब्दी में अरब में व्याप्त परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखा जाये तो कुल मिलाकर उन सबका उद्देश्य व्यावहारिक तरीके से मूर्तिपूजक (जितनी आबादी थी लगभग उतनी ही मूर्तियां भी थीं), अंधविश्वासी और दुष्ट लोगों को सार्थक जीवन-शैली वाले धर्म-भीरू समुदाय में बदलना था। जिन लोगों के पास अधिक दिमागी काम नहीं था उनके लिए रोजाना पांच वक्त की

नमाज की आवश्यकता मस्तिष्क की एकाग्रता को बढ़ाने का उत्कृष्ट तरीका था। और ऐसे लोगों के लिए जिनमें आत्म-संयम की कमी बिल्कुल स्पष्ट थी रोजे का लंबा महीना अनुशासन और संकल्प-शक्ति का पाठ था। बदरुद्दीन ने इस्लाम के नियमों का असली महत्व समझा और सतर्कता के साथ, शब्दिक और भावार्थ, दोनों ही रूपों में उनका अनुपालन किया।

इसके साथ ही, उनका विश्वास था कि उस समय मुसलमानों की कई ऊपरी आदतें धर्म का आवश्यक अंग नहीं थीं। यदि वह स्वयं लंबे वस्त्र पहनते और दाढ़ी रखते थे तो यह उनके धर्म का हिस्सा नहीं बल्कि निजी पसंद की निशानी थी। दूसरी ओर, उनका विचार था कि खाने की मेज पर अंग्रेजी शिष्टाचार सुरुचिपूर्ण और साफ-सुथरे थे और उन्हें उस समय उन्होंने अपनाया जब बहुत से मुसलमान छुरी और कांटे का इस्तेमाल विधर्मी मानते थे। जहां तक पर्दा और अन्य घरेलू रिवाजों का प्रश्न था, उन मामलों पर भी उन्होंने खुल्लमखुल्ला दावा किया कि असली इस्लाम से रिवाजों का कोई लेना-देना नहीं है और यह आग्रह कर एक उदाहरण स्थापित किया कि उनकी पत्नी और पुत्रियों को पुरुषों के साथ सामाजिक संपर्क से दूर नहीं रहना चाहिए। दरअसल, उनकी पुत्रियां बंबई में स्कूल भेजे जाने वाली पहली मुसलमान लड़कियों में से थीं, और उनमें से दो को कुछ समय के लिए इंग्लैंड के एक स्कूल भी भेजा गया क्योंकि उनके भावी पतियों के लिए यह महत्वपूर्ण था कि वो अंग्रेजी तौर-तरीकों से परिचित हों।

तो, बदरुद्दीन के लिए उनके धर्म की अनुभूति अत्यंत वास्तविक और गहरी थी, परंतु वह धर्म के नाम पर जो कुछ होता था उस सभी को तर्क के ठंडे दृष्टिकोण से परखने में सक्षम थे। वह संतों और पीरों की मजार पर रोगों के निदान या कठिन समय में चमत्कारिक सहायता के लिए जाने के रिवाज को सख्त नापसंद करते थे। एक अन्य स्तर पर उन्होंने इस बात पर खेद व्यक्त किया कि मुल्ला या धार्मिक नेता ऐसे मामलों में दखलंदाजी पर बल देते थे, जिनका धर्म से कोई लेन-देन नहीं था। वो अक्सर अकुशलता अथवा बेईमानी के आरोपों के संदेह का शिकार हो सकने के बावजूद भी धार्मिक न्यासों के समस्त वित्त के संचालन के उत्तरदायित्व का आग्रह करते थे। बदरुद्दीन ने बार-बार बल दिया कि धार्मिक नेताओं को यदि सांसारिक विषयों की पर्याप्त जानकारी न हो तो उन्हें उनमें दिलचस्पी नहीं लेनी चाहिए। उन्हें अपने आपको धार्मिक अध्ययन, परामर्श, मार्ग-दर्शन और धार्मिक विषयों पर समर्थन तक ही सीमित रखना चाहिए। बदरुद्दीन ने इन विचारों को व्यवहार में लाने के लिए ऐसे न्यासों की स्थापना की जिनका संचालन मुल्लाओं के नहीं बल्कि सांसारिक विषयों में अनुभवी लोगों के हाथों में था।

फिर भी, अच्छा मुसलमान होने के दो पहलू थे। एक ओर तो मुसलमान होने के नाते अपना निजी जीवन था और दूसरी ओर सार्वजनिक कर्तव्य और समुदाय के प्रति जिम्मेदारियां

थीं। स्वाभाविक तौर पर उत्तरदायित्व की भावना स्वयं अपने समुदाय की निर्धनता और सहायता के अनुपात में बढ़ती जाती है। एक धनी और पनपते समुदाय को हमारी सहायता की आवश्यकता नहीं होगी; एक निर्धन और स्पष्टतया पद-दलित समुदाय हमारी चिंता और अंतःकरण को जागृत करेगा।

जिस प्रकार बदरुद्दीन ने अपने नगर, अपने राज्य और अपने देश के लिए कार्य करने का दायित्व महसूस किया उसी तरह उनको स्वयं अपने धार्मिक गुट के हित में कार्य करना भी आवश्यक लगा। उस समय भारत में किसी भी अन्य समुदाय की अपेक्षा मुसलमानों को सहायता की अत्यधिक आवश्यकता थी। मुगल वंश का पतन उनके लिए जबरदस्त धक्का था। हालांकि उनके धर्म पर कभी कोई आंच नहीं आई, परंतु वो सभी मान्यताएं और मूल्य तथा विशिष्ट जीवन-शैली जो 'मुस्लिम संस्कृति' के शब्द में शामिल थी, अब बजाय प्रशंसा और अनुसरण किये जाने के अप्रिय होने लगी और कुछ लोग तो उसका मजाक तक उड़ाने लगे। इसका मुख्य परिणाम यह था कि वो अपने पुराने तौर-तरीकों से अधिक हठ के साथ लिपटने लगे।

उत्तर भारत के मुसलमानों का गुट लगभग एक जैसे लोगों का समुदाय था जिनकी जड़ें, भाषा और संस्कृति सदियों तक उन अफगान, तुर्की और फारसी लोगों से प्रभावित हुई जो दिल्ली के दरबार में आते रहे। वो सब लगभग एक ही तरह सोचते, महसूस करते और निर्वाह करते थे। परंतु बंबई में कहानी बहुत अलग थी। मुसलमानों के, जिनमें से अनेक हाल ही में परिवर्तित हुए थे, अनेक भिन्न-भिन्न गुट थे जिनकी भाषाएं, परंपराएं और जीवन-शैलियां भी अलग थीं - गुजरात का व्यवसायी वर्ग - खोजा और बोहरा, कच्छी, मेमन, हलाई, तटीय क्षेत्रों के कोंकणी—सुन्नी और शिया, तथा अरबी व फारसी भारत में नये-नये बसे लोग। हालांकि यह बिल्कुल सच नहीं है कि सभी गुट एक-दूसरे का गला घोंटने पर तुले हुए थे, फिर भी प्रत्येक गुट, बिना किसी अन्य के साथ मिले-जुले, अपने आप में आत्मनिर्भर था और यह महसूस करता था कि वह अन्य सभी गुटों से कुछ बेहतर है।

यह एक दुखद स्थिति थी और अब भी है। ऐसे धर्म में जो लोगों के बीच भाईचारे की भावना पर जोर देता है, असंख्य दल थे, जो सब एक-दूसरे के विरोधी थे। बदरुद्दीन ने महसूस किया कि इस परिस्थिति को ठीक करने की दिशा में पहला कदम यह होना चाहिए कि विभिन्न मतों को सामाजिक तौर पर एक-दूसरे के साथ मिलकर काम करने का अवसर प्राप्त हो। स्वयं अपने घर में उन्होंने सभी समुदायों और संप्रदायों को एक-साथ आमंत्रित करने की प्रथा बनाई। यह विचित्र बात है कि निजी तौर पर बदरुद्दीन मिलनसार अथवा समाज प्रिय व्यक्ति तक नहीं थे, परंतु सामाजिक संपर्क में उनकी गहरी आस्था थी। उनका विश्वास था कि किसी भी तरह के सामाजिक द्वेष से निपटने का सर्वोत्तम उपाय

था आपस में बैठकर भोजन करना। उन्होंने ऐसी दो संस्थाओं की स्थापना की और संगठन किया। एक था चौपाटी का इस्लाम क्लब जहां सभी पंथों के मुसलमान एकत्रित होते थे और एक-दूसरे को जानने का अवसर प्राप्त करते थे। दूसरी संस्था थी इस्लाम जिमखाना जिसका मैदान और सभागार सुंदर मेरिनड्राइव पर स्थित थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस मेल-जोल और सपंर्क से बंबई के मुसलमानों का बिखरा हुआ वातावरण बदल गया।

अब तक मुसलमानों का शौक पतंगबाजी, कबूतरबाजी, मुर्गबाजी और शायरी था जो सब मनोरंजन के ऐसे साधन थे जिसमें कोई विशेष शारीरिक परिश्रम नहीं था। बदरुद्दीन का शारीरिक क्षमता में दृढ़ विश्वास था और वह जानते थे कि शारीरिक योग्यता के एकमात्र माध्यम थे—व्यायाम और खेलकूद। उनका अनुभव था कि सामरिक खेलकूद और शिकार से वंचित होने पर मुसलमान शारीरिक तौर से निष्क्रिय मनोरंजन में जुट जाते थे और इसकी और पर्दा प्रथा की वजह से उनके स्वास्थ्य का स्तर निम्न था। किसी तरह उनसे खूब व्यायाम कराना और उन्हें जोरदार खेलों में शामिल कराना आवश्यक था।

इस्लाम जिमखाना की स्थापना इस समस्या का समाधान था, और हमारा विचार है कि उसने इस उद्देश्य की भलीभांति पूर्ति की होगी। इस कारण कि स्थापना के बाद शीघ्र ही इस्लाम जिमखाना के सदस्यों ने ऐसी क्रिकेट टीम बनाई जो देश की कुछ बेहतरीन टीमों से कम नहीं थी। इसमें इसके अतिरिक्त कोई बात नहीं है कि तमाम वातावरण में केवल एक व्यक्ति की दूरदर्शिता से भारी परिवर्तन आया और प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से जिमखाना ने बहुत से मुसंलमान खिलाड़ियों को उभरने में और मुस्लिम समुदाय के सामान्य स्वास्थ्य को सुधारने में सहायता की।

शारीरिक स्वास्थ्य से भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण था मानसिक स्वास्थ्य। और बदरुद्दीन ने महसूस किया कि चाहे वो उत्तर के हों या दक्षिण के, भारतीय मुसलमानों के लिए अच्छी शिक्षा की एक व्यावहारिक योजना अत्यंत महत्वपूर्ण थी। यह बात और है कि यह सिर्फ मुसलमानों की ही नहीं बल्कि सभी की आवश्यकता थी। लेकिन फिर भी मुसलमानों की कुछ विशेष समस्याएं थीं जो अन्य समुदायों में नहीं थीं। उदाहरण के तौर पर, एक मुसलमान बच्चे की शिक्षा का प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग था अरबी पढ़ने का ज्ञान ताकि वह कुरान पढ़ सके। यह शिक्षा मदरसों में उन मुसलमानों द्वारा दी जाती थी जो अरबी के कुशल शिक्षक होने पर भी अक्सर आधुनिक विचारधारा से बहुत दूर थे। इसके बाद, यदि बच्चा संस्कृति के जरा से ज्ञान की भी आकांक्षा करे तो उसे इतनी फारसी और उर्दू सीखनी पड़ती कि वह इन भाषाओं के काव्य का रसास्वादन कर सके। यदि बच्चे की मातृभाषा उर्दू हो तो मामले को संभाला जा सकता था। परंतु यदि यह गुजराती, मराठी अथवा कोई अन्य भाषा हो तो उसको वो भी सीखनी पड़ती। स्वयं बदरुद्दीन को अंग्रेजी

शिक्षा के शुरू होने से पहले ये सारी भाषाएं सीखनी पड़ीं। मुस्लिम संस्कृति अरबी और फारसी से इतने निकट रूप से जुड़ी हुई थी कि यह सोचा भी नहीं जा सकता था कि किसी भी मुस्लिम बच्चे को इन विषयों का अनेक वर्षो तक अध्ययन न कराया जाये।

वास्तव में, अक्सर यह आवश्यक माना जाता था कि बच्चे में कुरान की लंबी आयतें और ढेरों फारसी शायरी कंठस्थ सुनाने की क्षमता हो। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि इस सबके बाद अंग्रेजी भाषा अथवा कोई अन्य आधुनिक विषय के अध्ययन के लिए न तो इच्छा होती और न ही समय। कुल मिलाकर इसका यह प्रभाव पड़ा कि मुसलमान अधिक से अधिक आपस में ही मिलकर रहने लगे जैसा कि उन्होंने अपने आसपास की दुनिया को छोड़ देने का फैसला कर लिया हो। इसी के साथ वो अपने लिए अवसरों के अभाव और फलस्वरूप भौतिक सफलता न प्राप्त होने पर भी कुढ़ते थे।

बदरुद्दीन अपने समुदाय को इस सांस्कृतिक कैद से मुक्त कराने के लिए एक योजना बनाने के काम में लग गये। वह जानते थे कि मुसलमान लड़कों को शिक्षा की मुख्यधारा में लाने का एकमात्र तरीका था ऐसे स्कूलों की स्थापना जिनमें अरबी और फारसी के साथ अधिक आधुनिक विषय भी पढ़ाये जायें। यह स्पष्ट था कि मुसलमानों से उनकी पारंपरिक संस्कृति को छोड़ने की आशा नहीं की जा सकती थी, और नयी तरह की विद्या और शिक्षा के प्रति संदेहों का धीरे धीरे ही निवारण किया जाना था। अतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात थी मुस्लिम लड़कों के लिए ऐसे स्कूल की स्थापना की जाये जहां अरबी और फारसी के साथ साथ अंग्रेजी व अन्य अधिक आवश्यक विषयों की शिक्षा दी जाये। बहुत सारे मुस्लिम संप्रदायों में से किसी एक के लिए स्कूल खोलना अपेक्षाकृत अधिक सरल होता। परंतु सभी अलग अलग संप्रदायों से कैसे आग्रह किया जाये कि वे सब अपने पुत्रों को एक ही स्कूल में भेजें?

विभिन्न मुस्लिम गुटों के नेताओं की सहायता से बदरुद्दीन और उनके भाई कमरुद्दीन ने एक संस्था की स्थापना की जिसको उन्होंने 'अंजुमन-ए-इस्लाम' नाम दिया। संस्था का उद्देश्य सीधा-सादा था - मुसलमानों की उन्नति के लिए काम करना - जिसका अर्थ था कि अन्य सभी बातों से पहले उन्हें आधुनिक शिक्षा स्वीकार करने के लिए राजी करना। परंतु इस कार्य से पूर्व, अंजुमन-ए-इस्लाम को बंबई के सभी विभिन्न मुस्लिम समुदायों का विश्वास और सहयोग हासिल करना था; अन्य शब्दों में उसका कार्य ऐसा उद्देश्य खोजना था जो उनके मतों की संकीर्णता पर ध्यान दिये बिना सभी समुदायों को महत्वपूर्ण लग सके। और संयोग से ऐसा ही एक उद्देश्य अंजुमन के हाथ आ लगा।

सदियों से विश्व भर के मुसलमान तुर्की के शासक या खलीफा को अपना धार्मिक नेता मानते आ रहे थे। हुआ यह कि उन्हीं दिनों रूस ने तुर्की पर आक्रमण कर दिया जिससे सभी मुसलमानों के लिए तुर्की और खलीफा का भविष्य चिंता का विषय बन गया। अंजुमन

ने तुर्की के समर्थन में बंबई के जामा मस्जिद में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया और सभी मुसलमानों को शामिल होने को आमंत्रित किया। यह कमाल की चतुराई थी। लोग इतनी भारी संख्या में उमड़ पड़े कि मस्जिद में प्रवेश न पा सकने वालों की भीड़ से चारों ओर की गलियां घिर गयीं और उनका उत्साह और जोश इतना कोलाहलपूर्ण और अनियंत्रणीय था कि शांति स्थापना के लिए आयोजकों के पास यही उपाय रह गया कि मुअज्जिन उन्हें नमाज के लिए बुलाये।

एक ही प्रयास से अंजुमन बंबई के सभी मुसलमानों के प्रवक्ता के रूप में स्वीकारे जाने में सफल हो गयी। इस सफलता के बाद अंजुमन ने अन्य उपयोगी कार्य किये। वो कचहरी में पेश होने वाले मुसलमानों को जुमे की नमाज के लिए मस्जिद जाने की छुट्टी दिलाने में कामयाब हो गयी। मक्का की जियारत पर जाने वालों के लिए बेहतर इंतजाम कराने में वो सफल रही तथा जनगणना कार्यवाही और व्यापक रूप से टीका लगाये जाने के दौरान पर्दे वाली महिलाओं का विशेष ख्याल रखने के लिए सरकार को राजी करने में कामयाबी हासिल की।

ये अपूर्व सफलताएं नहीं थीं, परंतु सामान्य मुस्लिम जनता को इस बात का कायल करने के लिए पर्याप्त थीं कि अंजुमन पर विश्वास किया जा सकता है और वो मुसलमानों के कल्याण में वास्तविक रुचि रखता है। संक्षिप्त में, अब अंजुमन द्वारा स्थापित स्कूल में अपने पुत्रों के भेजने का उनका मन हो गया।

जिस प्रकार एक विकलांग व्यक्ति को अपने इर्द-गिर्द प्रत्येक व्यक्ति से विशेष सहायता की आवश्यकता होती है, बदरुद्दीन जानते थे कि उसी प्रकार मुसलमानों को सभी अन्य समुदायों से सहायता और सद्भाव की आवश्यकता थी, और उनसे विशेष सहायता मागने में वह लज्जित नहीं होते थे।

1882 में लार्ड रिपन ने एक शिक्षा आयोग की नियुक्ति की और बदरुद्दीन मौका ताड़कर मुसलमानों की ओर से विशेष वकालत करने के लिए उसके सामने पेश हुए। उन्होंने आरंभ में शासकों को यह स्पष्ट किया कि सरकार के लिए भारी संख्या में अशिक्षित मुस्लिम जनता का होना एक बड़ी अड़चन थी और इस बात की हर संभव कोशिश की जानी चाहिए कि उन्हें शिक्षित और राष्ट्र के उपयोगी सदस्य बनने के लिए प्रोत्साहित किया जाये। सरकार शिक्षा पर अपनी सबसिडी को घटाने की योजना बना रही थी। इसके विपरीत, उन्होंने कहा कि शिक्षा को सरकार द्वारा अब तक मिल रहे समर्थन और सहायता से कहीं अधिक के लिए योग्य माना जाना चाहिए।

बदरुद्दीन ने यह भी जाहिर किया कि सुशिक्षित मुसलमान भी उचित रोजगार इसलिए प्राप्त नहीं कर पा रहे थे क्योंकि बाजार में अरबी और फारसी की कदर बहुत कम थी। उन्होंने बहुत ईमानदारी के साथ मुसलमानों के पिछड़ेपन के कारणों का स्पष्टीकरण और

विश्लेषण किया। वह जानते थे कि यह बात मानना कष्टदायक तो था परंतु उनको अधिकतर कठिनाइयों का कारण मुसलमान स्वयं ही थे। वे आंशिक तौर पर असली और आंशिक तौर पर मनगढ़ंत गौरवशाली इतिहास के लिए घमंड और अहंकार से भरे थे, जबकि उनकी वर्तमान गरीबी ने उन्हें और भी असहाय बना दिया था। बदरुद्दीन ने आयोग को बताया कि वह ऐसे स्कूलों को प्रोत्साहित कर मुसलमानों की सहायता करें जिनके पाठ्यक्रम पर वे कोई आपत्ति व्यक्त न कर सकें। बद्ररुद्दीन ने पाया कि जब वह खुले और स्पष्ट तौर से बातचीत करते तो उन्हें सरकार से ही नहीं बल्कि अन्य समुदायों के ऐसे नेताओं से भी सहानुभूतिपूर्ण प्रभाव प्राप्त होते जो मुसलमानों को उनकी इस दुर्दशा से ऊपर निकलने में सहायता देने के उत्सुक थे।

इन तर्कों के आधार पर बदरुद्दीन ने सरकार से नवस्थापित अंजुमन-ए-इस्लाम स्कूल के लिए विशेष अनुदान की मांग की। उन्होंने कहा कि मुसलमानों की शिक्षा के लिए कोई प्रयास नहीं किये गये हैं और इस कारण यह सरकार का कर्तव्य है। अंजुमन स्कूल को खुशी खुशी वार्षिक अनुदान दिया गया हालांकि यह राशि खास बड़ी नहीं थी। इसके साथ ही बदरुद्दीन ने एक बार फिर मुसलमानों की विशेष कठिनाइयों का हवाला देते हुए यह समझाते हुए कि बहुत कम मुसलमान बच्चे सरकारी सहायता प्राप्त धर्मनिरपेक्ष शिक्षा कार्यक्रम का लाभ उठाते हैं, नगरपालिका से स्कूल के लिए अतिरिक्त अनुदान का अनुरोध किया और कहा कि उनकी शिक्षा के लिए विशेष धन-राशि का आवंटन उचित ही होगा। अंततः बंबई के राज्यपाल लार्ड री द्वारा स्कूल के नये भवन के उद्घाटन के अवसर पर उन्होंने कहा :

> "मैं आशा करता हूं कि बंबई के मुस्लिम समुदाय के इतिहास के वर्ष वृत्तांत में इस दिन को सदैव चिर-स्मरणीय माना जायेगा।"

तो यह थी अंजुमन-ए-इस्लाम स्कूल की कहानी जिसकी खूबसूरत इमारत आप बंबई के विक्टोरिया टर्मिनल के सामने देख सकते हैं। आज अच्छे खिलाड़ी पैदा करने में स्कूल की ख्याति है और अंजुमन द्वारा स्थापित अनेक स्कूलों और संस्थाओं में यह प्रथम था। इसका प्रबंध अब भी उसी के हाथों में है।

स्कूल के साथ मुस्लिम समुदाय का विश्वास जीतने के बाद अंजुमन मुस्लिम समुदाय के नेता के रूप में काम करने लगी, बल्कि यूं कहें कि बदरुद्दीन और कमरुद्दीन, दोनों भाईयों ने, जो सचिव और अध्यक्ष थे, कई अन्य लोगों के समर्थन से यह सुनिश्चित किया कि अंजुमन सभी मामलों पर उचित मुस्लिम दृष्टिकोण प्रस्तुत करेगी।

बदरुद्दीन ने प्रत्येक अवसर पर बड़े परिश्रम से इस बात पर बल दिया कि उन मामलों में जो केवल मुसलमानों से ही संबंधित हैं, जैसे शिक्षा की उनकी विशेष आवश्यकताएं, मस्जिदों का रख-रखाव, हज यात्रा का इंतजाम, उनके न्यास अथवा वक्फ आदि में, उनका

दृष्टिकोण अंजुमन-ए-इस्लाम जैसी उनकी विशिष्ट संस्थाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया जाना चाहिए। परंतु जब कोई मामला अन्य भारतीयों को भी प्रभावित करे तो मुसलमानों को अपनी राय जाहिर करने के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जैसी किसी अखिल भारतीय सस्था में शामिल हो जाना चाहिए। हालांकि बदरुद्दीन इस बात से किसी भी तरह अनभिज्ञ नहीं थे कि मुसलमानों की वास्तव में कुछ समस्याएं हैं, परंतु वह यह भी मानते थे कि यदि वे समस्त राष्ट्र का अंग बनना सीखें और 'छोड़ हुए' तथा 'पीछे छूटे' की भावना त्याग दें तो उनमें से बहुत-सी समस्याओं को हल किया जा सकता था।

बदरुद्दीन ने मुसलमानों को बड़ी संख्या में कांग्रेस में भर्ती होने को राजी करने में खूब समय और जोर लगाया। उन्होंने व्यक्तिगत तौर पर और मुस्लिम गुटों और संस्थाओं के नेताओं को यह समझाने का प्रयास करते हुए पत्र लिखे कि कांग्रेस में शामिल होना उनके लिए लाभदायक होगा क्योंकि इस हिस्सेदारी से उन्हें किसी भी तरह का नुकसान पहुंचना संभव नहीं था। जैसाकि हमने देखा ब्रिटिश सरकार ने सर सैयद अहमद खान को उत्तर भारत के मुसलमानों का नेता बनाया और बदले में वो मुसलमानों को कांग्रेस से बाहर रखकर अंग्रेजों को खुश करने को तैयार थे। ब्रिटिश सरकार औपचारिक तौर पर कांग्रेस के विरुद्ध नहीं थी, परंतु उसके एक ऐसी हिंदू संस्था होने की राय को प्रोत्साहित करना उनके अनुकूल था जिसमें मुसलमानों के लिए कोई स्थान नहीं था। बार बार बदरुद्दीन ने इसका खंडन किया।

"यह (कांग्रेस) हिंदुओं का आदोलन नहीं है—बल्कि भारत के विभिन्न समुदायों के अत्यंत बुद्धिजीवी प्रतिनिधियों के संयुक्त विचार-विमर्श का परिणाम है। इसका धर्म के साथ कोई संबंध नहीं है।"

उस जमाने में उन्हें मुसलमानों से जिस प्रकार के पत्र प्राप्त होते उसी का प्रतिरूप नीचे प्रकाशित पत्र है जो कानपुर के हकीम फखरुल हुसैन ने अंजुमन-ए-तहजीब की ओर से उनकी सलाह मांगते लिखा था। यह उर्दू में लिखा गया था :

> (हम) कांग्रेस अथवा उसके लक्ष्यों के विषय में कुछ भी नहीं जानते थे। परंतु जब मद्रास में इसकी सभा हुई और आप जैसे उच्च श्रेणी के महान व्यक्ति ने उसमें भाग लिया तो मुसलमानों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रहा और उसके लक्ष्यों और उद्देश्यों को समझ कर इस्लाम के अनुयायियों ने हृदय से इसमें हिस्सा लिया। परंतु मुसलमान सर सैयद अहमद खान के भाषण और अधिकारी-वर्ग द्वारा व्यक्त अप्रसन्नता से भयभीत हुए हैं। और अब श्री ह्यूम के पत्र का सर आकलैंड कैल्विन द्वारा दिया गया उत्तर देखकर, जो प्रकाशित किया जा चुका है, हम और अधिक डर गये हैं। सत्य तो यह है कि अधिकारी-वर्ग प्रत्येक व्यक्ति पर क्रोध व्यक्त कर रहा है। अनेक मुसलमान कांग्रेस को अपने लिए हानिकारक मानते हैं क्योंकि

इसमें हिंदुओं की बहुलता है और इस आशंका से कि बहुमत से कुरबानी और मोहर्रम के बारे में अवांछित नियम बनाये जा सकते हैं और धार्मिक अवसरों से जुड़ी छुट्टियों में हस्तक्षेप हो सकता है वो कांग्रेस के कार्यकलापों से अपने को दूर रख रहे हैं। इस जगह के मुसलमानों को आपकी राय पर भरोसा है और वो प्रतीक्षा कर रहे हैं कि यदि आप कह दें कि उनकी धार्मिक प्रथाओं को कोई नुकसान नहीं होगा तो वे इलाहाबाद में आयोजित कांग्रेस सभा में बेहिचक भाग लेंगे क्योंकि कांग्रेस के उद्देश्य ऐसे हैं जिनका कोई भी व्यक्ति विरोध नहीं कर सकता। हालांकि आप महानुभाव को निस्संदेह कष्ट तो होगा, फिर भी इन विषयों पर विस्तार से लिख भेजने की कृपा करें ताकि उसे मुसलमानों को पढ़कर सुनाया जाये और वो आश्वस्त हों। मैं एक और प्रार्थना करता हूं, और वह यह है कि कांग्रेस की अगली बैठक में इस प्रश्न पर बहस हो कि अधिकारी-वर्ग लोगों को भयभीत क्यों करते हैं। यदि सभा का आयोजन अधिकारियों की इच्छाओं के प्रतिकूल है तो उसे संवैधानिक तरीके से निषिद्ध कर देना चाहिए और उसमें कोई भी उपस्थित नहीं होगा और यदि सभा उनकी इच्छाओं के विपरीत नहीं है, जैसा कि घोषित किया गया है, तो इसे निजी तौर पर क्यों निषिद्ध किया जा रहा है और जो इसमें भाग लेने के पक्ष में हैं उन पर नाराजगी क्यों जाहिर की जा रही है?

वह आगे लिखते हैं :

और एक अन्य बात भी तय हो जानी चाहिए कि धर्म के मामले में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मर्जी के मुताबिक कुछ भी करने की स्वतत्रता होनी चाहिए। कांग्रेस को इस भेद-भाव को दूर करना चाहिए, इसका निर्माण नहीं।

केंद्रीय मुस्लिम एसोसिएशन की एलोर शाखा की ओर से एक अन्य पत्र में कहा गया:

प्रिय महोदय, मुझे मेरी एसोसिएशन ने आपसे यह पूछने का निर्देश दिया है कि आपकी राय में मुसलमानों के हिंदू राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल होने के क्या विशेष लाभ हैं और आपके पास अनेक प्रमुख मुसलमानों द्वारा कांग्रेस के विरोध में उठाई गयी कई आपत्तियों का क्या जवाब है? मुझे मेरी एसोसिएशन ने इनकी जानकारी हासिल करने को निर्देशित किया है। यहां एक प्रश्न उठा है कि एलोर के मुसलमानों को कांग्रेस में सम्मिलित होना चाहिए या नहीं। मैं आपसे अनुरोध करता हूं कि सुविधानुसार जल्दी से जल्दी उत्तर देने की कृपा करें।

बदरुद्दीन इन सभी पत्रों का ध्यान से और विस्तारपूर्वक उत्तर देते हुए लिखने वालों को समझाते कि मुसलमानों का भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल होने का, उस संस्था में शामिल होने का जिसे अब हम राजनीतिक और सामाजिक कार्यकलापों की मुख्य

धारा कहते हैं, क्या महत्व है। परंतु बदरुद्दीन तर्क तो दे सकते थे, व्याख्या भी कर सकते थे पर एक उत्तेजक वक्ता नहीं थे और इस हद तक सर सैयद से उनकी तुलना नहीं की जा सकती। सर सैयद आवेश पैदा करने में समर्थ थे, वह उनको भयभीत कर सकते थे, फुसला सकते थे, भड़का सकते थे। वह उनके अभिमान, उनकी असुरक्षा की भावना और सबसे अधिक अतीत के दिनों के लौट आने की आशाओं से अतीत में खोये रहने की उनकी इच्छा के कारण आकर्षक लगते थे। बदरुद्दीन वाक-पटु वक्ता तो थे, परंतु यह सब नहीं कर सकते थे। उनका आकर्षण बुद्धि और समझ के लिए था न कि भावनाओं के लिए, सिद्धांतों के लिए था न कि आकांक्षाओं के लिए। उन्होंने यथार्थ रूप से कहा कि मुसलमान राष्ट्र के सम्मानित और प्रतिष्ठित सदस्यों के रूप में भविष्य के लिए तैयारी करें। और सहज ही बदरुद्दीन ऐसी लड़ाई लड़ रहे थे जिसमें उनकी पराजय निश्चित थी। ब्रिटिश सरकार और उसके मोहरे सैयद अहमद खान के बीच फंसे मुसलमान अधिक कठिन मार्ग अपनाने में असमर्थ थे और बदरुद्दीन को हार माननी ही पड़ी।

परंतु इस हार ने एक बार प्रमाणित कर दिया, यदि अब भी प्रमाण की जरूरत थी, कि मुसलमानों के लिए आधुनिक शिक्षा का कितना महत्व था। उनके अज्ञान, अपने लिए स्वयं सोचने और निर्णय करने की उनकी अयोग्यता के कारण ही वे 'फूट डालो और राज करो' के ब्रिटिश खेल में प्यादे बन गये थे। बदरुद्दीन ने मुसलमानों के लिए अधिक से अधिक शैक्षिक संस्थाएं स्थापित करने के अपने प्रयासों को बढ़ा दिया। यह याद करना दिलचस्प लगता है कि लगभग एक शताब्दी के बाद आज भी बंबई की अंजुमन-ए-इस्लाम एक सम्मानित और विश्वास-योग्य संस्था है, उसकी जिम्मेदारियों में वृद्धि हुई है और तकनीकी व व्यावसायिक कालेजों, आवासीय स्कूलों, अनाथाश्रमों, लड़कियों के स्कूलों, शिक्षकों के ट्रेनिंग स्कूलों समेत कई दर्जन स्कूलों और शैक्षिक संस्थाओं का वह संचालन करती है।

निश्चित रूप से बदरुद्दीन को भारत के मुस्लिम समुदाय की सहायता में अपने योगदान से असंतुष्ट होने का कोई कारण नहीं था। उन्होंने मुसलमान लड़कों को आधुनिक शिक्षा उपलब्ध कराने की कठिन प्रक्रिया का आरंभ किया था और उनके स्कूलों ने इतनी तीव्र गति से विकास किया कि मुड़कर देखने की कोई गुंजाइश नहीं थी। वह मुसलमानों के प्रवक्ता बने रहे और जानते थे कि जहां कहीं भी उसकी वैध शिकायतें हों, मुसलमानों द्वारा अन्य लोगों से प्राप्त सहायता या सहानुभूति केवल मरहम हो सकती है, रोगमुक्त नहीं कर सकती। रोग मुक्ति का उपाय स्वयं मुसलमानों से ही प्राप्त हो सकता था। बहुत से पुराने रीति-रिवाजों और परंपराओं ने उन्हें जकड़ रखा था जिससे हर तरह के विकास में रुकावट आ रही थी। बदरुद्दीन ने अपने समुदाय के कुछ रिवाजों को बदलने की कोशिशें कभी नहीं छोड़ीं परंतु ऐसे उग्र परिवर्तनों को प्रस्तावित न करने के विषय में सावधान थे जो लोगों को विरोधी बना दें।

सभी हानिकारक परंपराओं के केंद्र में थी पर्दा प्रथा और महिलाओं के प्रति रवैया। कुरान ने कहा था, "अपनी सुंदरता और गहनों की अन्य लोगों के सामने नुमाइश न करो।" और सदियों से इस संदेश ने ऐसी आदतों का रूप धारण कर लिया जो न केवल महिलाओं को निकटतम परिवारजनों के बाहर किसी अन्य पुरुष द्वारा देखे जाने पर रोक लगाते, बल्कि कभी कभी निकटतम परिवार के दायरे से बाहर उन्हें महिला मित्र बनाने की भी अनुमति नहीं देते। आप कल्पना कर सकते हैं कि उनकी बुद्धि कितनी सीमित और अविकसित रह गई। कहा जाता है कि यदि एक पुरुष को शिक्षा दें तो आप एक व्यक्ति को शिक्षित करते हैं; परंतु जब एक महिला को शिक्षित करें तो आप एक परिवार को शिक्षित करते हैं। कोई अचरज नहीं कि इतने कम मुस्लिम परिवार आधुनिक मायनों में शिक्षित थे।

हम देख चुके हैं कि बदरुद्दीन ने इंग्लैंड में उनसे परिचित उन महिलाओं की मन से प्रशंसा और सम्मान करना सीख लिया था जो सुशिक्षित थीं और पुरुषों से बराबरी के साथ मिलने और बरताव करने की आदी थीं। उनके पिता के परिवार में उनकी सभी बहनें उस समय के हिसाब से सुशिक्षित थीं। उनकी पुत्रियों ने बचपन में घर में अरबी, फारसी, उर्दू और गुजराती सीखी, जिसके बाद उन्हें अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों में भेजा गया। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, उनमें से दो को तो स्कूली शिक्षा के लिए इंग्लैंड भेजा गया। उनकी पत्नी और पुत्रियों को बदरुद्दीन के सभी मित्रों से मिलने को प्रोत्साहित किया जाता था। उन्हें महिलाओं की संस्थाओं में शामिल होने और उनके कार्यों में हिस्सा लेने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता था। उनकी सभी पुत्रियों को संगीत की शिक्षा दी गई और वे शाम को उनके मनोरंजन के लिए गजलें गाने को तैयार रहती थीं। पर्दे का कोई प्रश्न ही नहीं था।

हम यह नहीं मानते कि बदरुद्दीन पिछले दशक में उभरे महिला मुक्ति आंदोलन के स्वरूप के समर्थक रह सके होते। उनके विचार चाहे कितने ही उन्नत क्यों न हों, महिलाओं की भूमिका को उन्होंने सदैव ही गृहस्थी की सृष्टा और परिवारों की निर्मात्री के रूप में ही देखा। वह उनके सहज ज्ञान और मानवीय भावनाओं की समझ पर विश्वास रखते थे। वह सभी पारिवारिक और घरेलू प्रश्नों पर उनके निर्णय में विश्वास रखते थे, जिसका अर्थ यह था कि पारिवारिक विषयों पर वह पत्नी द्वारा अपने निर्णयों की अस्वीकृति की अनुमति देते थे। महिलाओं के प्रति उनके गहरे सम्मान का आंशिक कारण शायद यह था कि उनकी पत्नी अत्यंत समझदार और परिपक्व थीं, और जिन्होंने जी-हुजूरी न करते हुए, उनके जीवन में महत्वपूर्ण सार्थक भूमिका अदा की। यह सुपरिचित है कि इस्लाम ने महिलाओं को अनेक महत्वपूर्ण अधिकार और सुरक्षा के प्रावधान प्रदान किये। एक है विरासत का अधिकार—पुत्री पिता की संपत्ति में पुत्र के हिस्से के आधे अंश की हकदार है। महिलाओं के अशिक्षित

और असहाय होने से अक्सर बहुत से मुस्लिम संप्रदायों में इस कानून की अवहेलना की जाती थी। पिता की संपत्ति बेटों के बीच बांट दी जाती थी और पुत्रियों को कुछ भी नहीं या छोटा-सा हिस्सा दिया जाता था। बदरुद्दीन यह आग्रह करने में सतर्क थे कि सभी बेटियों को उनके पिता की संपत्ति का न्यायसंगत अधिकार मिलना चाहिए।

मेहर अथवा विपरीत दहेज के मामले में यह रिवाज था कि विवाह के समय दूल्हा दुल्हिन को एक पूर्व-निश्चित रकम दे। इस रकम को पत्नी की संपत्ति माना जाता था और उन परिस्थितियों में उसकी सुरक्षा का उपाय समझा जाता था जब उसके पति की मृत्यु हो जाये अथवा किसी अन्य तरह से वह उसके निर्वाह का भार छोड़ दे। यह रकम सौदे से तय होती थी और दबाव देकर ऐंठने से लेकर सर्वाधिक बोली बोलने वाले तक यह किसी भी प्रकार के दुरुपयोग का शिकार हो सकती थी। बदरुद्दीन के परिवार में इस सिद्धांत पर अत्यंत नाममात्र का मेहर स्वीकार्य सिद्धांत बन गया। इसका कारण यह धारणा थी कि एक चरित्रवान व्यक्ति मेहर के होने या न होने के बावजूद अपनी पत्नी का भरण-पोषण करेगा जबकि अनुभव ने दिखाया कि चरित्रहीन व्यक्ति सदैव मेहर के बंधन से बचने का कोई उपाय पा सकता था।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि महिलाओं और उनकी स्थिति के बारे में बदरुद्दीन के विचार उनके समय के अधिकांश मुसलमानों से बिल्कुल भिन्न थे। यथाशक्ति उन्होंने साथी मुसलमानों को - पुत्रों के लिए आधुनिक शिक्षा स्वीकार करने और पुत्रियों को और अधिक भौतिक स्वतंत्रता देने - दोनों ही मामलों में अपने सख्त रवैये को बदलने के वास्ते राजी करने का प्रयास किया। उनका प्रभाव बंबई प्रेसिडेंसी तक और इसके अलावा जो कुछ वह व्यक्तिगत उदाहरण से सिद्ध कर सकते थे वहां तक सीमित था। उत्तर भारत के मुसलमानों ने सैयद अहमद खान के प्रायोजन में स्वयं को बदरुद्दीन के नेतृत्व से अलग कर लिया और उनको प्रभावित नहीं किया जा सकता था। एक विचित्र फुटनोट के तौर पर यह बताया जा सकता है कि आज उत्तर के मुसलमानों में बदरुद्दीन का नाम बहुत ऊंचा है हालांकि जीवनकाल में उनकी सलाह को बिल्कुल नहीं माना गया।

जहां तक मुसलमानों की राजनीतिक भूमिका का संबंध है, बदरुद्दीन के विचार सर सैयद अहमद खान से बिल्कुल विपरीत थे। बदरुद्दीन महसूस करते थे कि सभी भारतीय मुसलमान सर्वप्रथम भारतीय हैं, भारत के नागरिक होने की हैसियत से उनका धर्म विसंगत है और उन्हें सार्वजनिक कार्यकलापों में अवश्य भाग लेना चाहिए। दूसरी ओर, सर सैयद मुसलमानों को अपने को एक विशिष्ट गुट मानने के लिए प्रोत्साहित करते थे। जब बदरुद्दीन ने पाया कि मुसलमानों को अखिल भारतीय कांग्रेस के कार्यकलापों में भाग लेने को राजी करने के उनके सभी प्रयासों को सर सैयद ने विफल कर दिया तो वह कुछ पीछे हट गये। उनकी यह नीति थी कि वह कभी खुल्लमखुल्ला झगड़े में नहीं घुसते थे। सर सैयद अहमद

के साथ पत्र-व्यवहार ने उन्हें कायल कर दिया था कि उनके साथ तर्कसंगत और सुविवेचित बहस करना संभव नहीं था। इसी के अनुरूप, संवाद जारी रखने के प्रयास के बजाय बदरुद्दीन ने उत्तर भारतीय मुसलमानों की राजनीति से संन्यास लेना बेहतर समझा। वह सदैव ही अंजुमन-ए-इस्लाम में बहुमत अपने साथ कर सकते थे। सर सैयद की मृत्यु के बाद परिस्थिति कुछ बदल गयी।

सर सैयद ने मोहम्मडन एंगलो-ओरिएंटल एजुकेशनल कांफ्रेंस की स्थापना की, जिस संस्था के माध्यम से वे अपने विचारों का प्रचार करते थे। यद्यपि उसका प्रत्यक्ष उद्देश्य मुसलमानों में शिक्षा को प्रोत्साहित करना था, फिर भी कांफ्रेंस का कांग्रेस-विरोधी मंच के रूप में उपयोग किया जाता था। उत्तर भारत में मुसलमानों के कांग्रेस में प्रवेश करने की बदरुद्दीन की इच्छा को न पूरा होने देने में यह संस्था मुख्य रूप से कारगर रही। सर सैयद की मृत्यु के कुछ समय पश्चात कांफ्रेंस के तत्कालीन अध्यक्ष ने बदरुद्दीन को एक बार फिर उनकी बैठक की अध्यक्षता करने को कहा और यह प्रस्तावित किया कि बैठक बंबई में होनी चाहिए। अब की बार साफ साफ मना करने के बजाय बदरुद्दीन ने कुछ शर्तें रखीं। वह अध्यक्षता करना स्वीकार कर लेंगे बशर्ते कांफ्रेंस सही तौर पर अपना छिपा राजनीतिक रुझान छोड़ दे और अपने को मुसलमानों की शिक्षा की वास्तविक समस्याओं तक ही सीमित रखे। अध्यक्ष नवाब मोहसिन-उल-मुल्क इस पर सहमत हो गये - क्योंकि बदरुद्दीन को कांफ्रेंस के साथ संबद्ध करने के लिए कोई भी कीमत अधिक नहीं थी। इससे उसकी प्रतिष्ठा में जबरदस्त वृद्धि होनी और उसे अखिल भारतीय स्वरूप मिलता जो कि बदरुद्दीन के अलग रहते वह कभी नहीं प्राप्त कर सकी।

अपनी ओर से बदरुद्दीन ने इसे भारत के सभी मुसलमानों को संबोधित और प्रभावित करने का एक अवसर माना। उनका विश्वास था कि मुसलमानों के अधिक सम्मानित, अधिक सफल और अधिक समृद्ध होने का एकमात्र तरीका आधुनिक शिक्षा का माध्यम था। किसी भी व्यक्ति के लिए उर्दू और अरबी के ज्ञान को ही पर्याप्त मानने की उनकी वर्तमान आदत के परिणामस्वरूप ही वे लाभकारी रोजगार से वंचित रह गये थे। बदरुद्दीन के अनुसार सभी लड़कियों को भी आधुनिक पद्धति की शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए। उन्होंने अपनी आस्थाओं को व्यावहारिक रूप तब दिया जब उन्होंने अपनी लड़कियों को घर में कुरान और उर्दू की शिक्षा दिलाने के बाद मिशनरी स्कूलों में भर्ती करा दिया। उनके सभी पांच पुत्रों को वही कठिन प्रशिक्षण प्राप्त हुआ जैसा कि स्वयं उनको - अल्पायु में घर में मुंशी, अंग्रेजी-माध्यम स्कूल और बाद में एक अंग्रेजी विश्वविद्यालय से। अपने सभी बच्चों के लिए ऐसी खर्चीली शिक्षा की व्यवस्था थोड़े ही लोगों के वश में थी। परंतु महत्वपूर्ण मुद्दा यह था कि शिक्षा को पूर्व और पश्चिम का संगम, परंपरा और आधुनिकता का मिश्रण होना चाहिए। उससे आपकी संस्कृति की जड़ों को नुकसान नहीं पहुंचना चाहिए, लेकिन

उसे आज के आधुनिक विश्व में काम करने और सुख-चैन से रह सकने की योग्यता प्रदान करनी चाहिए।

मोहम्मडन एंगलो ओरिएंटल एजुकेशनल कांफ्रेंस की बैठक की अध्यक्षता स्वीकार करने में बदरुद्दीन के लिए स्पष्ट प्रलोभन यह था कि उनके सामने सामान्य तौर पर शिक्षा और विशेषकर लड़कियों की शिक्षा के प्रति, मुसलमानों के रवैये को बदलने का अवसर था। आयोजक भारत के दूर-दराज के इलाकों से भारी संख्या में प्रतिनिधियों की आशा नहीं कर रहे थे क्योंकि बदरुद्दीन ने शर्त लगायी थी कि कांफ्रेंस को अपना राजनीतिक स्वरूप छोड़ना होगा और शिक्षा के विषय पर वाद-विवाद का मात्र एक मंच बनना पड़ेगा। शिक्षा के लक्ष्यों पर विवाद राजनीति द्वारा पैदा किये जा सकने वाले उन्माद की तुलना में निर्जीव और नीरस विषय है।

परंतु यह सूचना कि कांफ्रेंस की अध्यक्षता बदरुद्दीन करेंगे, दूर-दूर तक फैल चुकी थी और अप्रत्याशित तथा चुनौती भरी बड़ी संख्या में देश के सभी कोनों से इतने प्रतिनिधि चले आये कि उनके आवास की समस्या उत्पन्न हुई। प्रत्येक सुप्रसिद्ध मुस्लिम और सभी विचारों के लोग उपस्थित थे, चाहे वो आगा खां हों अथवा विख्यात कवि और लेखक। प्रतिनिधियों की संख्या आठ सौ थी।

इस बात में कोई संदेह नहीं कि भारत के समस्त मुस्लिम जगत को - सर सैयद के संकीर्ण और कट्टरपंथी विचारों का बदरुद्दीन की गहन बुद्धिमत्ता और विस्तृत परिप्रेक्ष्य द्वारा प्रतिस्थापन से - वातावरण में परिवर्तन की अनुभूति हुई। आगा खां ने सत्य ही कहा :

> विद्वान और महान जज में बंबई के मुसलमानों ने एक ऐसा नेता पाया है जिस पर हम सबको उचित रूप से गर्व है—वह नेता जिसकी बौद्धिक उपलब्धियां अद्वितीय हैं, वह नेता जिसके नेतृत्व में राष्ट्रीय जागरण के उद्देश्य से काम करते हम सबको गर्व है—यह सब वास्तविक प्रगति के चिन्ह हैं।

कांफ्रेंस इस अवस्था में थी कि बदरुद्दीन द्वारा उसका मार्गदर्शन और नेतृत्व किया जाये। उन्हें उनकी समझदारी, उनके निर्णय और उनकी ईमानदारी पर विश्वास था और उन्होंने मुसलमानों को नई दिशा का बोध और आत्मसम्मान दिलाने में अपनी आशाएं उनके साथ बांध लीं। बदरुद्दीन ने आरंभ में ही निश्चित कर लिया कि इस बात पर कोई संभ्रांति नहीं हो कि वह किस प्रकार की भूमिका निभाने को तैयार हैं—और अपने उद्घाटन भाषण में उन्होंने जनता के समक्ष उन शर्तो को दोहराया जिनके अंतर्गत उन्होंने अध्यक्षता स्वीकार की थी।

"सज्जनो, निस्संदेह आपको मालूम है कि कांफ्रेंस का अस्तित्व जो पिछले कई वर्षो से बना हुआ है, परंतु अब तक उसकी कार्रवाईयों में मैं सक्रिय रूप से कोई भाग नहीं ले पाया। इसमें कोई संदेह नहीं कि इसके अनेक कारण रहे हैं, जिनका उल्लेख करना

अनावश्यक होगा। लेकिन एक कारण ऐसा है जिसके विषय में मुझे कुछ शब्द अवश्य बोलने चाहिए। सज्जनो, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संदर्भ में मेरी अनूठी स्थिति के विषय में शायद आप जानते हैं। युवावस्था के वर्षो में जब मैं अधिक स्वच्छंद था, जब मैं अपने वर्तमान पद के दबावों और जिम्मेदारियों में नहीं जकड़ा हुआ था और फलस्वरूप जब मैं सार्वजनिक जीवन, और विशेष रूप से, प्रभुत्व की राजनीति में अधिक सक्रिय रूप से भाग ले सकता था, मैंने कांग्रेस का समर्थन अपना कर्तव्य माना, और जैसा कि आपको शायद ज्ञात होगा मुझे कुछ वर्ष पूर्व मद्रास में आयोजित कांग्रेस की अध्यक्षता करने का सम्मान प्राप्त हुआ था। उस अवसर पर मैंने अपने चुनाव को किसी भी भारतीय को साम्राज्य में उसके साथियों द्वारा दिया जा सकने वाला सर्वोच्च सम्मान बताया था। उस समय ऐसे विचारों वाला व्यक्ति होने के कारण, और अब भी ऐसे ही विचारों का धारक होने से, आप सहज ही समझ जायेंगे कि मेरे लिए किसी भी ऐसी संस्था के संबंध में कोई भाग लेना संभव नहीं था जिस पर कांग्रेस के प्रति बैर या प्रतिरोध का कोई भी संदेह था या भविष्य में हो सकता हो। अब, जबकि शैक्षिक और सामाजिक संस्था के तौर पर कांफ्रेंस की स्थिति स्पष्टतया पारिभाषित है, और इस वजह से दोनों संस्थाओं के बीच बैर अथवा प्रतिरोध का आभास तक नहीं हो सकता, मैं पूर्णतया सरल अंतःकरण से आपकी कार्रवाईयों की अध्यक्षता करने का उच्च गौरव स्वीकार कर सकता हूं।"

इतना कहकर उन्होंने एक बार फिर अपनी शत-प्रतिशत मुस्लिम सभा को वे सिद्धांत समझाये जिन पर उनका राजनीतिक रवैया आधारित होना चाहिए। उन्होंने कहा कि मुसलमान होने के नाते, हमारा मार्गदर्शक सिद्धांत यह होना चाहिए कि जहां तक सामान्य राजनीतिक प्रश्नों का संबंध है मुसलमानों और भारत के अन्य समुदायों को अलग अलग अथवा एक-दूसरे के प्रति बैर भाव से नहीं बल्कि कंधे से कंधा मिलाकर साथ काम करना चाहिए। परंतु यदि कोई राजनीतिक कार्रवाई विशिष्ट रूप से मुसलमानों से संबद्ध हो तो ऐसी स्थिति में हमारे लिए न केवल यह उचित अथवा सही है बल्कि भारी कर्तव्य भी है कि हम अलग समुदाय के रूप में अपनी बात व्यक्त करें और जो कुछ भी हम अपने हितों के प्रतिकूल अथवा हानिकर मानें, उसका सभी वैधानिक तरीकों से विरोध करें।

यह सिद्धांत, जिसे अत्यंत स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया, मुझे आज भी मुसलमानों द्वारा अनुसरण के लिए एक उत्तम और व्यवहार्य नियम प्रतीत होता है। हम यह सोचने को बाध्य हो जाते हैं कि यदि सम्मेलन के शीघ्र बाद बदरुद्दीन का देहांत न हो गया होता तो वह मुसलमानों को बिल्कुल अलग दिशा दिखाते और भारत का इतिहास बहुत भिन्न हो गया होता।

फिर भी जैसा कि बदरुद्दीन ने स्वयं निर्धारित किया था—मोहम्मडन एंगलो ओरिएंटल कांफ्रेंस का उद्देश्य मुसलमानों की शिक्षा संबंधी समस्याओं पर ध्यान केंद्रित करना और

राजनीति से बचना था।

बदरुद्दीन ने स्पष्ट किया कि शिक्षा के मामले में मुसलमानों के इतना पिछड़ा होने की वजह से आधुनिक जगत में उनके समृद्ध अथवा सफल न हो सकने के दो कारण थे। पहला कारण उनका यह विश्वास था कि शिक्षा को धार्मिक पठन-पाठन और उर्दू के अध्ययन तक सीमित होना चाहिए और दूसरा कारण था महिलाओं को शिक्षित करने से उनका इंकार। यह जाहिर था कि मात्र कुरान और उर्दू शायरी की जानकारी, चाहे कितनी ही वांछनीय क्यों न हो, उन्हें डाक्टर, वकील, प्रशासनिक अधिकारी बनने अथवा अपना व्यवसाय अथवा उद्योग चलाने योग्य नहीं बना सकती थी। लड़कों को ऐसी शिक्षा प्रदान करना आवश्यक था कि वे किसी खास पेशे में शामिल होने के लायक बन सकें और यह तभी किया जा सकता था जब वे उन्हीं स्कूलों में प्रवेश लें जिनमें अन्य समुदायों के लड़के जाते थे। अरबी और उर्दू का अध्ययन अन्य आधुनिक विषयों के स्थान पर नहीं बल्कि सामान्य स्कूल के पूर्ण और सामान्य पाठ्यक्रम के अलावा किया जाना चाहिए था। पश्चिमी देश विश्व में अग्रणी थे और यह अत्यंत महत्वपूर्ण था कि आधुनिक ज्ञान से हमारा भी परिचय हो और हम वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्राप्त कर सकें। इसके बिना हम पिछड़ जायेंगे, हमारा समुदाय निर्धन से निर्धन होता जायेगा और उन्नति की दौड़ में हम बुरी तरह हार जायेंगे।

दूसरी बात जो बदरुद्दीन के हृदय के अत्यंत समीप थी, शायद और भी अधिक महत्वपूर्ण थी। उस समय में जिस संकीर्णता के साथ पर्दा प्रथा का पालन किया जाता था, उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। 'अच्छे' परिवारों की महिलाओं को न केवल किसी भी पुरुष से मिलने से रोका जाता था बल्कि उनसे अन्य घरों की महिलाओं के साथ तक किसी तरह के लेन-देन की अपेक्षा नहीं की जाती थी। उन्हें घरेलू कर्तव्यों से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ी बातों के अलावा किसी और बात को सुनने अथवा जानने या उसमें रुचि लेने की अनुमति नहीं थी। जिस मस्तिष्क के लिए काम नहीं होगा वह अवश्य अपने आप में सिमट जायेगा, कमजोर हो जायेगा, विकृत हो जायेगा और उसमें परिप्रेक्ष्य और संतुलन का अभाव हो जायेगा। इससे भी बदतर, जिस शरीर को सक्रिय नहीं रहने दिया जायेगा और धूप व ताजी हवा की पहुंच से दूर रखा जायेगा वो अवश्य ही अस्वस्थ और आलसी हो जायेगा। विकास-काल में अधिकतर बच्चों की देखभाल का भार पूरी तरह उनकी माताओं पर ही होता है। 'अस्वस्थ शरीर में अस्वस्थ बुद्धि' वाली यह माताएं क्या उन्हें उचित प्रशिक्षण और शिक्षा दे सकती थीं ? इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अधिकांश मुसलमान नासमझ और अंधविश्वासी थे। इन सब बातों का जिक्र-करते हुए बदरुद्दीन ने स्पष्ट किया कि यह सख्त और विस्तृत पर्दा प्रथा कुरान में चर्चित कुछ सामान्य बातों पर आधारित थी, जिनके अंतर्गत महिलाओं को पुरुषों के सामने अपने सौंदर्य की भड़कीली नुमाइश को मना किया गया

था। उन्होंने कहा :

> निस्संदेह कुरान की अनेक आयतों में और पैगंबर के हदीस द्वारा नैतिकता और विनय के उच्चतम सिद्धांतों को तय किया गया है जो मन में विनय और मर्यादा उत्पन्न करते हैं, जो सौंदर्य और आभूषणों के भड़कीले प्रदर्शन पर प्रतिबंध लगाते हैं, जो अनुचित आचरण की भर्त्सना करते हैं। परंतु मैं कुरान में ऐसा कुछ नहीं खोज पाया जो हमारे बीच व्याप्त सख्त पर्दा प्रथा की आज्ञा अथवा अनुमति तक देता हो।

यहां थोड़ा रुक कर हमें इस बात के एक महत्वपूर्ण और मूलभूत कारण का उल्लेख करना होगा कि सदियों से मुसलमान महिलाओं को घनी कैद में अशिक्षित, अनभिज्ञ और निष्क्रिय क्यों रखा गया। बुनियादी तथ्य यह था कि ऐसी महिलाओं का होना जिनका एकमात्र ध्येय घरों में पुरुषों की तंदुरुस्ती की देखभाल करना हो और जो किसी भी प्रकार से उनकी प्रतियोगी न बन सकें पुरुषों के हितों के अनुरूप था। कुरान और हदीस (पैगंबर की वाणी) के शब्द निजी विनय और मर्यादा के अत्यंत सामान्य सुझाव मात्र थे। कालांतर में इस्लाम से प्रभावित विभिन्न संस्कृतियों ने इन सुझावों की भिन्न भिन्न प्रकार की ठोस व्याख्याएं कीं। महिलाओं को अलग-थलग करने का रवैया पुरुषों के इस अहसास से अधिक सख्त हो गया होगा कि महिलाओं का जीवन जितना सीमित हो जाये, पुरुषों को उतनी ही अधिक सुविधा होगी। जब तक पुरुषों के जीवन और व्यवसाय की सफलता सिपाहीगरी, घुड़सवारी और अन्य 'मर्दाने' किस्म की शारीरिक क्रियाओं से संबंधित थी, शायद अशिक्षित और सीमित दृष्टिकोण की पत्नियों और माताओं के होने की हानि स्पष्ट नहीं थी। जब मानसिक कार्य आम हो चले, तब जाकर यह बात समझ आई कि जिन लोगों की माताएं और पत्नियां बुद्धिमान थीं उन्हें उन लोगों की अपेक्षा अपार लाभ था जिनके घरों में स्त्रियां अशिक्षित थीं। बदरुद्दीन इस बात को महसूस करने और इस पर सार्वजनिक संघर्ष करने वाले पहले मुसलमान थे। उन्होंने महिलाओं को ताजी हवा, व्यायाम और धूप से वंचित रखने की क्रूरता का जोरदार विरोध किया। परंतु वह इस बात के भी कायल थे कि आनुवंशिक तौर पर हमारे वंश की किस्म तभी सुधरेगी जब परिवारों में माताओं को कुछ हद तक बौद्धिक उपलब्धियां और शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त हो सके। स्वयं उनके अपने घर में उनकी पत्नी सभी सार्वजनिक विषयों पर उनके विचारों और धारणाओं की भागीदार थी और उनकी पुत्रियों को घुड़सवारी, सैर को जाने और बैडमिंटन खेलने को तैयार किया गया।

तो स्थिति यह थी कि निजी तौर पर बदरुद्दीन ने स्वयं अपने परिवार में आवश्यक सुधार कर लिये थे। उनकी पत्नी अथवा पुत्रियों में से कोई भी पर्दा नहीं करती थीं। जब उनकी पुत्रियों में से एक विधवा हो गई तो उन्होंने उसे 'इद्दत' - वह चार महीनों की अवधि जिसमें विधवा को किसी पुरुष को देखने की अनुमति नहीं होती - करने से मना कर दिया। यह उस जमाने के लिए क्रांतिकारी बात थी। परंतु उनके रुतबे और प्रभाव

की वजह से उनके परिवार पर अंगुली उठाने की किसी की हिम्मत नहीं हुई क्योंकि जितनी वास्तविक मर्यादा और औचित्य उनके परिवार में पाई जाती, उतनी अन्यत्र कहीं नहीं थी। उस समय अन्य विख्यात मुसलमान भी थे जो पर्दा प्रथा को नापसंद करते थे, परंतु उनमें इतना साहस नहीं था कि वे 'सुधार' की शुरुआत अपने घरों से करें। अधिकांश मुसलमान— और एजुकेशनल कांफ्रेंस की बैठक में जब वह मंच पर खड़े हुए तो भारी संख्या में इसी वर्ग के श्रोता थे - रूढ़िवादी, दकियानूसी पुरुष थे, जिनका दृढ़ विश्वास था कि महिलाओं को घर से तो क्या रसोईघर से बाहर जाने की अनुमति नहीं होनी चाहिए।

बदरुद्दीन के भाषण पर व्यक्त प्रतिक्रियाओं की कल्पना की जा सकती है। अब तक किसी भी मुसलमान ने समुदाय के प्रतिष्ठित रिवाजों को खुल्लमखुल्ला चुनौती देने का साहस नहीं किया था। धार्मिक प्रथाओं के तौर-तरीकों को तय करने में अंतिम निर्णय हमेशा मुल्लाओं और मौलवियों के हाथों में था। और यह स्मरणीय है कि घरेलू, सामाजिक और सार्वजनिक, जीवन के प्रत्येक पहलू में धर्म किसी तरह तो मुखरित होता ही था जिससे मुल्लाओं को हस्तक्षेप का बहाना मिल जाता। बदरुद्दीन के भाषण से श्रोताओं में उपस्थित मौलवी ही विशेष रूप से क्रुद्ध हुए क्योंकि संभवतया उन्हें इसमें अपनी सत्ता को चुनौती दिखाई दी। एक विशेषरूप से लड़ाके मौलवी बदरुद्दीन के भाषण पर आपत्ति करने खड़े हुए और दावा किया कि कुरान पर्दे का आदेश देता है। बहुत से श्रोताओं की उत्तेजना और विरोध को समझते हुए बदरुद्दीन ने उन्हें बैठकर प्रसंग से संबद्ध आयत को कागज के टुकड़े पर लिख भेजने को कहा। कागज के टुकड़े को पढ़कर बदरुद्दीन ने सभा में घोषणा की, "यह नया अथवा अलग बिल्कुल नहीं है बल्कि जिन आयतों को मैं पढ़ता हूं उसका केवल एक अंग है।" इस बीच उत्तेजना बढ़ गई थी और अन्य लोग भी चिल्लाने और विरोध करने पर उतारू हो गये थे। मौलवियों की जीत के साथ बैठक कोलाहल के बीच समाप्त हो जाती क्योंकि वह सुधारक जो बदरुद्दीन के विचारों के पक्षधर थे अन्य लोगों से बढ़कर शोर नहीं मचा सकते थे। साथ ही, प्रगतिशील अल्पसंख्यक संकोची होते हैं और अपनी ओर ध्यान आकर्षित करना पसंद नहीं करते। अपने व्यक्तित्व के कारण और अपनी गरजती आवाज की सहायता से बदरुद्दीन ने ही उपद्रवियों को फिर से बैठने को मजबूर कर दिया। फिर भी बदरुद्दीन के खिलाफ क्रोध बिल्कुल भी समाप्त नहीं हुआ था। और उनकी शारीरिक सुरक्षा को इतना खतरा पैदा हो गया था कि बाकी अधिवेशन के दौरान पुलिस के सुरक्षाकर्मी कांफ्रेंस में आते-जाते उनके साथ होते थे।

फिर भी मामले के साथ आमना-सामना हो गया था और कटु और तर्कहीन होने के बावजूद बहस आरंभ की जा चुकी थी। अब के बाद पर्दा प्रथा को फिर कभी मान कर नहीं चला जा सकता था अथवा धर्म के आवश्यक अंग के रूप में इसका समर्थन नहीं किया जाना था। पीछे हटने की बात ही नहीं थी। स्पष्ट था कि एक दिन में पर्दा प्रथा

खत्म नहीं होने वाली थी - इसमें अनेक वर्ष लगते और इसके अप्रत्यक्ष हानिकारक प्रभावों के जाते और अधिक समय लगता। परंतु समय पलट चुका था और मामला बिल्कुल साफ निर्णायक मोड़ पर तब पहुंचा था जब बदरुद्दीन ने मोहम्मडन एंगलो ओरिएंटल एजुकेशनल कांफ्रेंस में अपना उद्घाटन भाषण दिया था।

रूढ़िवाद की नैया को हिला देने के शीघ्र बाद मौके का फायदा उठाते हुए बदरुद्दीन ने लड़कियों के स्कूल की स्थापना का प्रस्ताव रखा। पर्दे का रोना-धोना फिर मच गया। लड़कियों को स्कूल कैसे भेजा जा सकता था क्योंकि इसका अर्थ होता सार्वजनिक स्थानों से गुजरना और पुरुषों से संपर्क। बदरुद्दीन ने उत्तेजित श्रोताओं को पर्दे की उचित व्यवस्था किये जाने का आश्वासन देकर शांत किया क्योंकि वह जानते थे कि कम से कम आरंभ में ऐसा नहीं किया गया तो स्कूल में किसी भी छात्रा के प्रवेश की आशा नहीं की जा सकती थी। इस प्रस्ताव को भी एक मोड़ माना जा सकता है क्योंकि एक बार सिद्धांत रूप में मुस्लिम लड़कियों को स्कूल भेजा जाना स्वीकार हो जाने के बाद बाकी काम आसान हो गया।

यह कांफ्रेंस कई तरह से उल्लेखनीय थी क्योंकि बदरुद्दीन ने इसे मुस्लिम समुदाय की सभी खामियों और उन बेकार की परंपराओं पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने का अवसर बना लिया जिन्होंने समुदाय को गरीब और पिछड़ा रखने में भूमिका अदा की थी। बदरुद्दीन ने स्पष्ट रूप से उन पर हमला बोल दिया। उदाहरण के तौर पर, उन्होंने विवाह और मृत्यु के अवसर पर फिजूलखर्ची की परंपरागत आदतों से होने वाले नुकसान, बाल-विवाह के नुकसान और स्वस्थ लोगों को निर्वाह के लिए भीख मांगने को प्रोत्साहन देने के नुकसान की ओर ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने बेकारी का जीवन, जबरदस्ती के विवाह आदि की हानियों का वर्णन किया और रचनात्मक पक्ष में, मुस्लिम वक्फों और न्यासों के बेहतर संचालन और शिक्षा के लिए उनका उपयोग करने का निवेदन किया। मुसलमानों को और अधिक स्कूलों, कालेजों, छात्रावासों, कला व दस्तकारी संस्थाओं की तथा अन्य सभी किस्म की रचनात्मक संस्थाओं की आवश्यकता थी। यदि बदरुद्दीन इनमें से कुछ योजनाओं को भी लागू करने तक जीवित रहते तो भारतीय मुसलमानों की किस्म और हौसले बिल्कुल भिन्न होते।

बदरुद्दीन तैयबजी की अध्यक्षता के कारण 1903 के मोहम्मडन एंगलो ओरिएंटल कांफ्रेंस से मुसलमानों की कई बाधाएं दूर होने लगीं। भले ही शारीरिक अथवा भौतिक तौर पर नहीं, परंतु बौद्धिक रूप से उन्होंने पहली बार इस स्थिति का सामना किया कि मुस्लिम संस्कृति की सीमित दुनिया में बंद रहने से वे अपने लिए सांसारिक सफलता के अवसर समाप्त कर लेंगे। आधुनिक शिक्षा को स्वीकार करना, अपने पुत्रों को अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों में भेजना, पर्दे पर बल देने पर ढील आदि सभी निर्णय एक-साथ नहीं

लिये गये। परंतु एक नया रास्ता अवश्य खुल गया और अब आधुनिक विचारों और आधुनिक शिक्षा का लाभ उठाने वाले किसी भी व्यक्ति को अधर्मी नहीं माना जा सकता था। हां, उसे साहसी और चतुर व्यक्ति के रूप में अवश्य स्वीकार किया जा सकता था।

मेरे विचार में भारत के मुसलमानों के दृष्टिकोण में परिवर्तन की शुरुआत करना मुस्लिम समुदाय के लिए बदरुद्दीन का सबसे बड़ा योगदान था। कांफ्रेस उनके जीवन भर के प्रयत्नों की पराकाष्ठा और चरम सीमा थी। उन्होंने शुरुआत स्वयं अपने ही परिवार से की। उनका परिवार अत्यंत धार्मिक था। परंतु उन्होंने उसमें कई ऐसे पश्चिमी रिवाजों को शामिल किया जो उन्हें अच्छे लगते थे। उदाहरण के लिए, लड़के और लड़कियों को साथ खेलने तथा सैर, पिकनिक और घुड़सवारी के लिए जाने को प्रोत्साहित किया गया। कई मायनों में यह परिवार एक ठेठ भारतीय मुस्लिम घर लगने के बजाय विक्टोरिया के जमाने के उच्च वर्ग के किसी मकान से ज्यादा मेल खाता था। मकान के साज-सामान और दिखावट को उतना ही महत्व दिया गया था जितना विशाल उद्यानों की सुदरता और रख-रखाव को। समय की पाबंदी और अनुशासन के गुण परिवारजनों में कूट कूट कर भरे थे। समय की पाबंदी तो इतनी गहरी आदत बन गई थी कि यह कल्पना करना भी कठिन है कि उनके परिवार का कोई भी सदस्य किसी मौके पर देर से पहुंच सकता था।

उनके परिवार से बाहर की तरफ फैलता हुआ, बंबई प्रेसिडेंसी के सभी मुसलमानों के जीवन और दृष्टिकोण पर उनका प्रभाव पड़ा। अंजुमन-ए-इस्लाम के माध्यम से वह सुनिश्चित करते थे कि उनसे संबंधित सभी प्रश्नों पर मुसलमान सही रवैया अपनाये - चाहे वो प्रश्न अखिल भारतीय महत्व के हों अथवा मात्र प्रांतीय या सांप्रदायिक। उन्होंने अंजुमन-ए-इस्लाम और बांबे प्रेसिडेंसी एसोसिएशन के साथ अपने दीर्घकालीन संबंध को सार्वजनिक विषयों पर बुद्धिमत्ता से विचार करने की परंपरा के निर्माण में लगाया। यह सच है कि सर सैयद अहमद खान के बैर के कारण उत्तर भारत के मुसलमान बदरुद्दीन के प्रभाव को प्रत्यक्ष रूप से महसूस नहीं कर सके। परंतु हमने देखा कि सर सैयद की मृत्यु के लगभग तुरंत बाद जोरदार और जबरदस्त मांग हुई कि बदरुद्दीन उस संस्था की अध्यक्षता करें जिसे सर सैयद की विशेष रियासत माना जाता था। इस महत्वपूर्ण कांफ्रेंस के दो वर्ष बाद बदरुद्दीन की मृत्यु हो गई। मृत्यु के समय वह बंबई के प्रधान न्यायाधीश के स्थायी पद को स्वीकार कर चुके थे। स्पष्ट है कि यदि वह जीवित रहते तो राजनीति में बिलकुल भाग नहीं ले पाते और समाज सुधार में उनका योगदान सीमित ही होता। परंतु उनके मुंह से निकला एक शब्द इतना हासिल करने के लिए पर्याप्त था जितना अन्य लोग वर्षो के परिश्रम से नहीं प्राप्त कर सकते थे। यह दोहराने के लोभ से बचना कठिन है यदि बदरुद्दीन कुछ और वर्षो तक जीवित रहते तो भारतीय मुसलमानों का इतिहास अधिक सुखद होता।

अंतिम विश्लेषण में हम बदरुद्दीन तैयबजी के जीवन और उनके इर्द-गिर्द के लोगों पर उनके प्रभाव का सार किन शब्दों में प्रस्तुत करें ? उनके निजी गुण इतने प्रभावकारी थे कि सार्वजनिक जीवन में कदम रखने के पहले दिन से ही वह भारतीयों का विश्वास और अंग्रेजों से सम्मान प्राप्त कर सके थे। शिक्षा, बुद्धि, चरित्र और उपलब्धि के मामलों में उनकी तुलना केवल सर्वोच्च अंग्रेज राजनेता से की जा सकती है, जबकि कोई भी भारतीय क्षण भर के लिए भी संदेह नहीं कर सकता कि सार्वजनिक जीवन में उनके शामिल होने का एकमात्र लक्ष्य मातृभूमि के प्रति उनकी संबद्धता और उनका प्रेम था। वकील के नाते, जज के नाते, सार्वजनिक मामलों से जुड़े व्यक्ति के नाते उनके प्रयास सदैव 'सत्य' तक पहुंचने की भावना द्वारा निर्देशित होते थे। और अल्पकाल में तो सत्य के कई पहलू हो सकते हैं, दीर्घकालीन सत्य केवल एक और सुस्पष्ट होता है। यही वह सत्य है जिसे बदरुद्दीन सदैव ढूंढ़ निकालते थे।

बदरुद्दीन की महान सेवाओं में एक शायद ब्रिटिश सरकार को यह दिखाना था कि उत्तरदायित्व संभालने के क्षेत्र में भारतीय उनकी बराबरी कर सकते हैं। शताब्दी के आरंभ में जब सपने में भी भारत की स्वाधीनता की कल्पना नहीं की जा सकती थी और जब किसी भारतीय को उच्च पद देने तक से इंकार कर दिया जाता था, बदरुद्दीन उनके इस विश्वास के खंडन के जीते-जागते उदाहरण थे कि भारतीय लोग घटिया मिट्टी के बने हैं। किसी भी भारतीय द्वारा उन दिनों आकांक्षित उच्चतम पदों तक पहुंच कर, चाहे वह बंबई के प्रधान न्यायाधीश का हो या भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का, वह अंग्रेजों की आंखों में सारे देश का मान बढ़ाने के लिए जिम्मेदार थे।

जैसा कि हमने देखा, इसके साथ ही अपने सर्वतोन्मुखी व्यक्तित्व के कारण उन्होंने जीवन के गैर-महत्वपूर्ण क्षेत्रों में भी सामान्य ज्ञान और व्यवस्था का संचार किया। शारीरिक व्यायाम, खेलकूद, सैर-सपाटे, पिकनिक, छुट्टियों की यात्राओं आदि में उनकी रुचि ने उनके परिवार और समुदाय की जागरूकता के दायरे को विस्तृत बनाया। वह अपने घर की सुंदरता, व्यवस्था और मनोहारिता का विशेष ध्यान रखते थे—जिसके विषय में अधिकांश भारतीय उदासीन थे। उन्होंने इस्लामी, भारतीय और अंग्रेजी, तीनों संस्कृतियों से ध्यानपूर्वक चुनकर एक मिश्रण तैयार किया, जिसका परिणाम था एक सम्मानित और तर्कसंगत जीवन-शैली जो उनके समस्त परिवार और उनके वंशजों के लिए आदर्श है। उनकी प्राथमिकताएं स्वयं उनकी अथवा अन्य लोगों की दृष्टि में सुस्पष्ट थीं। सबसे पहले वह भारतीय थे, बाद में मुसलमान और अंत में विश्व के एक नागरिक।

अनुक्रमणिका